भारती-कवि-विमर्श

भारती-कवि-विमर्श

लेखक

श्री रामसेवक पाण्डेय

आयुर्वेदशास्त्री, साहित्योपाध्याय

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड

प्रयाग

विषय-सूची

निवेदन

सागर विशाल है, गंभीर है, जीवनमय है। सागर से सृष्टि की स्थिति है। सभ्यता और संस्कृति का सागर से सम्बन्ध है। उसका बाहर और भीतर—दोनों—संसार पर गहरा प्रभाव डालते हैं। सृष्टि के इतिहास में सागर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सागर के अभाव में संसार की स्थिति में कैसे उलट-फेर हो सकते हैं, इसकी बहुत कुछ कल्पना आधुनिक विज्ञान के बल-बूते पर की जा सकती है।

संस्कृत साहित्य भी सागर के समान महान् है, गहन है और जीवन के लिए स्फूर्तिमय है। मानव-सभ्यता और संस्कृति का संस्कृत साहित्य प्रमुख अङ्ग है। संस्कृत वाङ्मय ने संसार की प्रवृत्तियों पर गहरा प्रभाव डाला है। संस्कृत साहित्य सृष्टि के इतिहास का एक रोचक अध्याय है। संस्कृत साहित्य के अभाव में विश्व की विविध सांस्कृतिक विचार-धाराओं में कौन सी कमी रह जाती, इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति चिरकाल से प्रतिकूल परिस्थितियों में फँसी हुई हैं। संस्कृति के गौरव को बहुत बड़ा धक्का लगा है। उसने अपना बहुत कुछ गँवा दिया है, फिर भी उसकी मौलिक प्रवृत्तियों में अब भी जीवन है। यद्यपि संस्कृति-सरिता की धारा मन्द-गति और मलिन हो गई है फिर भी उसका आदिस्रोत सूखने नहीं पाया है। यह विशुद्ध स्रोत संस्कृत साहित्य है। जिस दिन संस्कृत साहित्य लुप्त हो जायगा उसी दिन भारतीय संस्कृति भी तिरोहित हो जायगी।

भारत में प्रचलित विविध देशी भाषाओं की जननी देववाणी संस्कृत है। माता की सांस्कृतिक दुग्धधारा को पीकर ही इन देशी भाषाओं

ने भारत के व्यापक जन-समाज में भारतीय संस्कृति को जीवित रखने में सफलता प्राप्त की है। राष्ट्रभाषा हिन्दी ने भी इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किया है। हर्ष की बात है कि अब भी यह प्रयत्न जारी है। संस्कृत साहित्य के पारदर्शी जो विद्वान् संस्कृत साहित्य के सुधारस को स्वल्प मात्रा में भी हिन्दी भाषा को प्रदान करते हैं वे महान् ज्ञान यज्ञ के सांस्कृतिक पुण्य-फल के अधिकारी हैं। वे राष्ट्र के सच्चे शुभचिन्तक हैं। उनके प्रयत्न न केवल हिन्दी भाषा को परिपुष्ट करते हैं वरन् राष्ट्रीयता और भारतीयता की रक्षा करते हैं। संस्कृत साहित्य में जो उज्ज्वल भारतीय विचार-धारा है, यदि वह पावन और निर्मल रूप में देशी भाषाओं के माध्यम से जन समाज की सांस्कृतिक पिपासा को शान्त कर सके तो भारतीय राष्ट्राभ्युदय का कार्य सरल हो जाय। साहित्याचार्य श्री रामसेवकजी पाण्डेय ने संस्कृत साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है। वे देववाणी के प्रकाण्ड पण्डित हैं। संस्कृत साहित्य बहुत व्यापक है। उसका काव्यभण्डार परम मनोहर है। उसकी कविता जैसी अनुपम है वैसे ही काव्यशास्त्र का विवेचन भी अद्वितीय है। पाण्डेयजी संस्कृत काव्य में तो पारंगत हैं ही, साथ ही काव्यशास्त्र के भी विशेषज्ञ हैं। कवितासम्बन्धी वर्तमान विचारधाराओं से भी वे अपरिचित नहीं हैं। इस प्रकार संस्कृत कविता पर अधिकारपूर्वक लिखने की उनमें पूर्ण पात्रता है। आपने इस अद्भुत योग्यता का पूर्ण सदुपयोग किया है। संस्कृत कवियों की सूझबूझ का सहृदयता-पूर्ण विश्लेषण आपके हिन्दी-निबन्धों में पढ़ने को मिलता है। आपके ऐसे बहुत से लेख समय समय पर 'सरस्वती', 'माधुरी' तथा 'समालोचक' आदि पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं। कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, माघ, दण्डी, अमरुक, राजशेखर और कवि कर्णपूर्ण के काव्य-चमत्कार का परिचय आपने जिस योग्यता और सहृदयता से कराया है वह अपूर्व है। आपकी आलोचना को पढ़ कर कवि के काव्य को मूल ग्रन्थ में पढ़ने

की रुचि होती है। कवि की सूझबूझ के अन्तस्तल में प्रवेश करके आप कविता के मर्म को इतनी सुलझी और सरल भाषा में व्यक्त कर देते हैं कि आपकी काव्यमर्मज्ञता पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। स्वर्गीय आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने आपके कई लेख बहुत पसन्द किये और आपको आशीर्वाद तथा बधाई के पत्र लिखे। पाण्डेयजी ने अपने लेखों में केवल कविता के मर्म को ही नहीं खोला है वरन् काव्य में पाये जानेवाले सूत्रों से तत्कालीन इतिहास, समाजिक परिस्थितियों एवं सांस्कृतिक विचारधारा पर भी प्रकाश डाला है। कविता-गत दोषों को छिपाने का आपने प्रयत्न नहीं किया है। स्थल स्थल पर आपने अपने मानसिक स्वातन्त्र्य का भी परिचय दिया है। असमर्थनीय रूढ़ियों का आपने भूल कर भी समर्थन नहीं किया है।

पाण्डेयजी के लेखों का यह संग्रह बहुत सुन्दर है। इसको पढ़कर संस्कृत कवियों के सम्बन्ध में अनेक पाठकों की ज्ञानवृद्धि होगी और संस्कृत काव्य के अध्ययन की ओर रुचि बढ़ेगी। आशा है, हिन्दी-संसार में इस संग्रह का समुचित स्वागत होगा। मित्रवर साहित्याचार्य श्री राम-सेवकजी पाण्डेय को मैं इस संग्रह के प्रकाशन के उपलक्ष्य में बधाई देता हूँ।

गंधौली
माघ शुक्ल पूर्णिमा
सं० २००७ वि०

विनीत
कृष्णबिहारी मिश्र
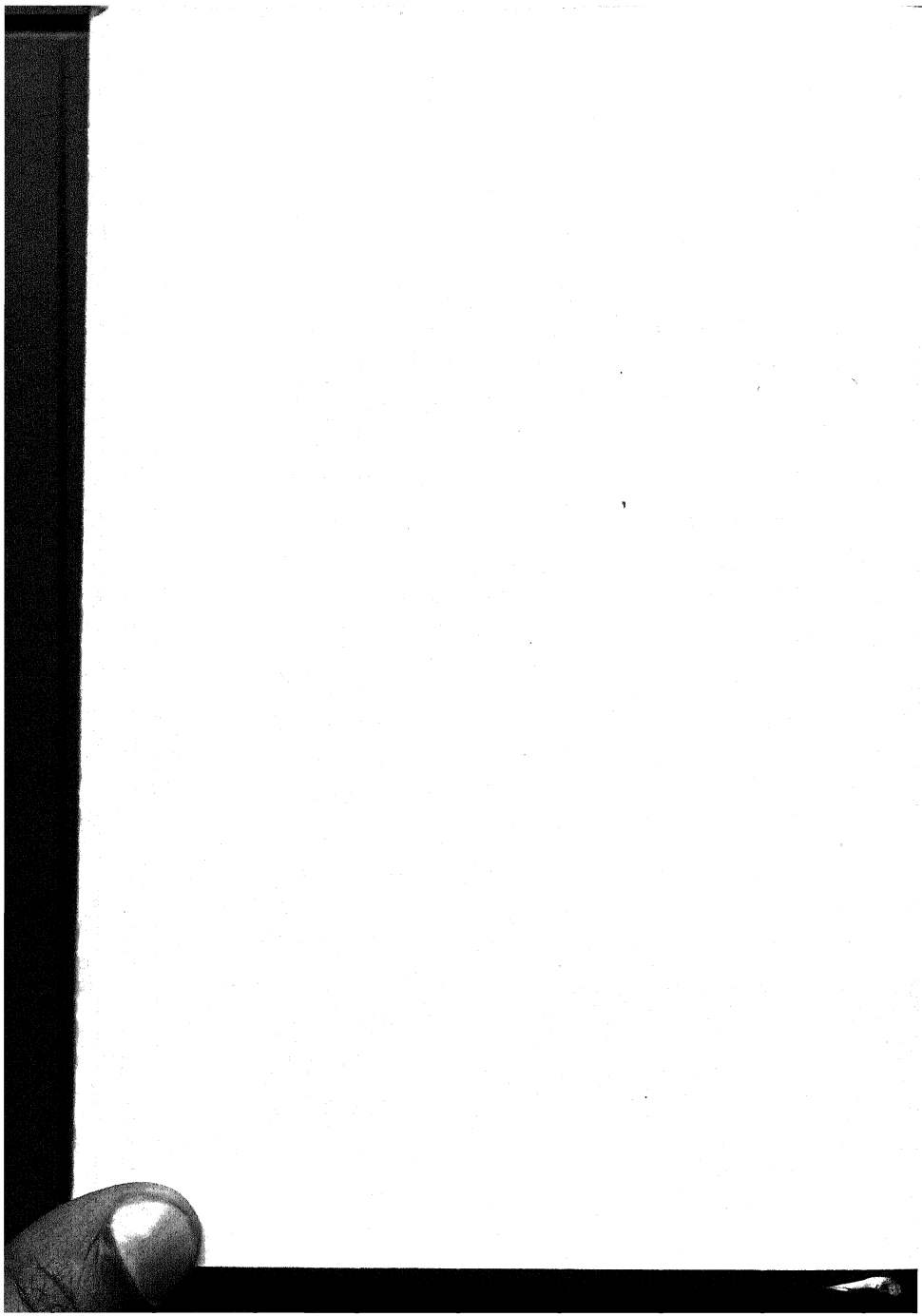
लेखक का निवेदन

हिन्दी-जगत् के सम्मुख यह 'भारती कवि-विमर्श' नामक निबन्ध-संग्रह उपस्थित करते हुए मुझे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हो रहा है। दो वष तक मैं रोग-शय्या पर पड़ा रहा। गत वर्ष तो जीवन की बिल्कुल आशा न रह गई थी। पड़े पड़े सोचता था कि अब की बार यदि अच्छा हो गया तो मातृ-भाषा के श्रीचरणों पर मैं भी अपनी तुच्छ पुष्पाञ्जलि समर्पित करूँगा। भगवान् को दया करते देर नहीं लगती। किसी उर्दू कवि ने कहा है "उसे फजल करते न लगती है वार, न हो उससे मायूस उम्मीदवार।" उसी की कृपा से कुछ स्वास्थ्य-लाभ हुआ। पत्रिकाओं से पुराने लेखों की प्रतिलिपि करवाई। इच्छा यह थी कि इनमें संशोधन और परिवर्धन करता। किन्तु दुर्भाग्यवश अब भी ऐसा स्वास्थ्य नहीं है कि वह शारीरिक और मानसिक श्रम को सहन कर सके।

मेरे क्षुद्र निबन्ध प्रकाशित होने जा रहे हैं। इस समय मुझे देव-तुल्य परम श्रद्धेय गुरुदेव महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा एम० ए०, डी लिट्० की याद आ रही है। मैं सन् १९२० ई० में अध्ययन के लिए काशी गया और गवर्मेण्ट संस्कृत कालेज में नाम लिखाया। उस समय वे उसके प्रिंसिपल थे। वे मुझ पर पुत्र की भाँति स्नेह रखते थे और मातृ-भाषा में लिखने के लिए अधिक उत्साहित किया करते थे। सन् १९२१ ई० में मैंने 'वर्षा और संस्कृत कवि' शीर्षक निबन्ध 'सरस्वती' के लिए लिखा जिसे पढ़ कर उन्होंने मेरी पीठ ठोंकी। वे मुझसे जैसा साहित्यिक कार्य लेना चाहते थे, दुर्दैव ने वैसा नहीं होने दिया। गार्हस्थ्य

जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियों से विवश होकर मुझे वाराणसी छोड़नी पड़ी। जिस पवित्र साहित्य-सेवा के मधुर स्वप्न छात्र-जीवन में देखा करता था वे 'सोम शर्मा' के संकल्पों की भाँति निष्फल हो गये। जीवन का अधिकांश सुर-भारती के सेवन में व्यतीत हुआ था। उचित था कि अध्ययन और सेवन में ही समय कटता, पर हुआ उसके विपरीत। मेरी दशा इन सूक्तियों के अनुसार है :—

"यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति
यच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति"।

"मन दर च खयालम फलक दर च खयाल"

आज पूज्य गुरुदेव यदि जीवित होते तो अत्यन्त प्रसन्न होते। सौभाग्यवश उन्हीं के सुपुत्र अँगरेजी, संस्कृत, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित, साहित्यमर्मज्ञ, स्वनामधन्य, डाक्टर अमरनाथ झा उनके रूप में (आत्मा वै जायते पुत्रः) विद्यमान हैं। मुझे परम हर्ष है कि पूज्य गुरु की भाँति उनकी कृपा और आशीर्वाद मुझे प्राप्त है। इन क्षुद्र निबन्धों को उन्हें दिखा कर मैंने सन्तोष कर लिया।

संस्कृत साहित्य में समालोचना

संस्कृत भाषा का साहित्य विशालता, उत्तमता एवं प्राचीनता की दृष्टि से विश्व में अतुलनीय है। उसमें दो प्रकार के काव्य है--श्रव्य और दृश्य। इनकी रचनाओं का आरम्भ कब से हुआ ? इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। लौकिक काव्य के निर्माता आदिकवि वाल्मीकिजी माने जाते हैं। पर अलङ्कार आदि काव्यांगों से चमत्कृत पद्यमयी रचना वेद और उपनिषदों में भी है। ऋग्वेद का प्रकृति-वर्णन विशेषतः उषा का वर्णन साहित्यिक

दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि का है। आदिकवि को काव्य-रचना की प्रेरणा वेदों से ही प्राप्त हुई होगी। दृश्य काव्यों का अस्तित्व पाणिनि से बहुत पूर्व का है। लोक में जब काव्य बनने लगे तब आगे चल कर उनके नियम भी बनाये जाने लगे। अग्नि-पुराण में व्यासजी ने दोनों प्रकार के काव्यों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। ईसवी सन् के आरम्भ में भरत-मुनि ने प्राचीन नट-सूत्रों के आधार पर नाट्य-सूत्र लिखा जिसमें नाट्यांगों के अतिरिक्त रस, अलङ्कार आदि काव्य-सम्पत्तियों का वर्णन है। बाद को भामह, दण्डी, आनन्दवर्धनाचार्य आदि आचार्यों ने वैज्ञानिक रीति से लक्षणग्रन्थों को—जिन्हें आज कल हिन्दी में रीति ग्रन्थ कहते हैं—लिखना आरम्भ किया जिसमें रस, रीति, गुण, दोष, अलङ्कार आदि काव्य परखने की कसौटियाँ बना ली गईं। उनसे काव्य का बाह्य और आन्तरिक स्वरूप भली भाँति जाना जाता है। इस प्रकार की काव्यालोचना संस्कृत-साहित्य में मिलती है। क्षेमेन्द्र, अप्पय-दीक्षित आदि विद्वानों ने स्वतन्त्र रूप से आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे हैं पर आलोचना का क्षेत्र विशेष नियमों से बँधा होने के कारण उसमें विश्वतोन्मुखी उन्नति नहीं हुई।

इधर पश्चिम में समालोचना-साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ। अँगरेजी भाषा के अध्ययन से भारतीय विद्वानों ने भी पाश्चात्य-प्रणाली के समालोचना-सिद्धान्तों से लाभ उठाया और देशी भाषाओं में भी समालोचना-ग्रन्थ लिखे जाने लगे।

प्रस्तुत ११ निबन्ध प्राच्य और पाश्चात्य शैली से लिखे गये हैं।

कृतज्ञता-ज्ञापन

मैं अपने आदिगुरु पं० शङ्करदयालुजी शास्त्री शुक्ल, जो कि संस्कृत साहित्य के विशेषतः वेदों के विद्वान् हैं, का अतीव

आभारी हूँ, जिनकी कृपा से मेरा संस्कृत-साहित्य में प्रवेश हुआ। हिन्दी-काव्यों के प्रसिद्ध समालोचक, साहित्य-मर्मज्ञ 'देव और विहारी' आदि पुस्तकों के प्रणेता पं० कृष्णविहारी मिश्र बी० ए०, एल्-एल० बी० का हृदय से कृतज्ञ हूँ। संस्कृत-काव्यों की समालोचना लिखने की प्रेरणा सर्व-प्रथम मुझे उन्हीं से प्राप्त हुई तथा समय समय पर साहित्यिक परामर्श उनसे मिलते रहे। प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका लिखने की भी अनुकम्पा उन्होंने की है।

इण्डियन प्रेस, प्रयाग के अध्यक्ष श्रीयुत हरिकेशव घोष ने इस मँहगी के युग में अच्छे कागज पर छपवा कर इसे प्रकाशित किया, जिसके लिए मैं हृदय से उन्हें अनेक धन्यवाद देता हूँ।

मेरे प्रिय शिष्य चि० पं० उमाशङ्कर वाजपेयी साहित्य-विशारद तथा मेरे भांजे आयुष्मान् पं० कमलाकर मिश्र ने लेखों की प्रतिलिपि की है। अतः मैं उन्हें हृदय से आशीर्वाद देता हूँ।

श्री भरद्वाज औषधालय,
बड़ागाँव, सीतापुर
आश्विन शरद् पूर्णिमा
सं० २००८

रामसेवक पाण्डेय
आयुर्वेद शास्त्री,
साहित्योपाध्याय

महाकवि कालिदास

महाकवि कालिदास सरस्वती के वह वर पुत्र हैं, जिनके कवित्व की ख्याति उनके जीवन-काल से प्रारम्भ होकर युगों-युगों तक हुई और भविष्य में भी होती रहेगी। इसके प्रमाण समय-समय पर कवियों और साहित्य-मर्मज्ञों द्वारा विरचित प्रशस्तियाँ हैं। कुमारिल भट्ट जैसे दार्शनिक और धर्माचार्य्य ने उनकी सूक्तियों का उल्लेख कर उनके प्रति समादर प्रदर्शित किया है। भारत के बाणभट्ट, जयदेव, गोवर्द्धनाचार्य्य आदि कवियों ने यदि मुक्त-कण्ठ से उनकी प्रशंसा की है तो पश्चिम के गेटे, हम्बोल्ड, विलियम जोन्स आदि ने भी उनका गुणगान किया है। यद्यपि ऐसे विश्व-कवि से अखिल पृथिवी को गर्व है तथापि भारत का, जो कि वर्तमान युग में सभ्य देशों से पिछड़ा हुआ है, मुख विशेष रूप से उज्ज्वल हुआ है।

खेद है कि हमें उनके बाह्य स्वरूप का कोई परिचय नहीं। मालूम नहीं कि वे साँवले थे या गोरे, मोटे थे या दुबले, नाटे थे या लाँबे, शिर पर कैसा उष्णीष रहता था, कैसा उत्तरीय पहनते थे, उनके माता-पिता और गुरु कौन थे, जन्म-भूमि कहाँ थी और वे किस वातावरण में पले थे। इन सब बातों के जानने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। उन्होंने अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा। इसका एकमात्र कारण यही मालूम होता है कि वे लोकैषणा-शून्य, कणाद, गौतम आदि ऋषियों के अनुयायी थे, जो अपने विषय में सर्वथा मौन हैं।

भले ही उनके बहिर्जगत् का ज्ञान हमें न हो तो भी उनके ग्रन्थों में उनकी आत्मा का दर्शन होता है; उनका जीवन स्पष्ट झलकता है; विचारों और रुचि का पता चलता है। उनके काव्यों

में स्वतंत्र गौरव-पूर्ण भारत और आर्य-संस्कृति का सजीव चित्रण है। उन्होंने आर्य-धर्म और सभ्यता का संदेश सुनाया है। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं बातों का दिग्दर्शन कराया जायगा।

काव्य-नायकों का चुनाव

मानव-समाज म मात्स्य न्याय न प्रचलित हो--बली दुर्बलों को उत्पीड़ित न करें, इसके लिए राजा की उत्पत्ति हुई है। इसका प्रमाण आर्य्यों का प्राचीन इतिहास है। राजा समाज-व्यवस्था को स्थिर रखता है, समस्त जाति और वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है, समाज के श्रेय का उत्तरदायित्व तथा मर्यादा के संरक्षण का भार उसी के कंधों पर है। संरक्षक होने से साधारण मानवों की अपेक्षा उसका चरित्र उदात्त है।

वर्तमान युग में स्वेच्छाचारिता के कारण राज-तन्त्र अनादर की दृष्टि से देखा जाता है किन्तु भारतवर्ष की प्राचीन आर्य्य राज्यप्रणाली एक आदर्श थी। राजा धर्म[1] के बंधन से बँधा था। धर्म राजा से भी ऊपर था जिसकी व्यवस्था आप्त महर्षि करते थे। भारतीय राजनीति के जानकारों से यह छिपा नहीं है कि पश्चिम के निरंकुश और स्वेच्छाचारपूर्ण साम्राज्यों में और प्राचीन आर्य्य-साम्राज्यों में आकाश-पाताल का अन्तर है। वर्तमान साम्राज्यवाद के आधार पर प्राचीन आर्य्य-राज्य-प्रणाली की कल्पना एक ऐतिहासिक अन्याय है।

---

[1]स नैव व्यकरच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्म्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म्मस्तस्मात्।--ब्राह्मण ४ अ० १

धर्म्मात् परन्नास्ति—बृहदारण्यक। वह ब्रह्म चारों वर्णों को रच कर भी विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ तो उसने श्रेयोरूप धर्म्म की रचना की। वह (धर्म्म) क्षत्रिय का भी नियन्ता है। अतः धर्म्म से कोई उत्कृष्ट नहीं है।

भारतीय प्रजा 'अराजक जनपद'[१] को सोचना भी भयावह समझती थी, क्योंकि उसमें सभी सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं के नष्ट हो जाने से प्रजा का घोर अमङ्गल होता था। राजा प्रजा पर आई हुई विपत्तियों का--अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दैवी विपत्तियों का भी—अपने को ही उत्तरदायी समझता था और उनके निराकरण का सतत प्रयत्न करता था। राजचर्य्या एक त्याग और तपोमय जीवन थी। प्रजा भी राजा को लोकपालों[२] का अंश या नररूप में महती देवता[३] मानती थी। यही कारण है कि आर्य्य-साहित्य में काव्यों के चरितनायक राजा विशेषतः सोम और सूर्य्यवंशी ही हैं। महर्षि वाल्मीकि और वेदव्यास ने तथाकथित राजाओं को ही उनके नैतिक आचरणों[४] की उच्चता के कारण नायक बनाया है। महाकवि

१. नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव नरा नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्।
नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।
शेरते विवृतद्वारा कृषिगोरक्षजीविनः।
नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः।
सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणा संशितव्रताः।
—वाल्मीकि रा०, अ० ६७, अयोध्याकाण्ड

२. अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः—मनुस्मृति।

३. बालोऽपि नावमन्तव्यः मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥—मनुस्मृति

४. राजा सत्यं च धर्म्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥
वा० रा० अ० ६७ श्लो० ३४
यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः।
विशेष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः॥
—वाल्मीकि रामायण, अध्याय ६७, श्लोक ३५

कालिदास ने भी इसी परम्परा की रक्षा की है। विशेषता यह है कि उन्होंने राजाओं के अतिरिक्त काव्य में देव-चरित्र को भी स्थान दिया है। शिव पर उनकी अनन्य आस्था थी। कुमार-सम्भव में देव-देव शम्भु और कुमार स्कन्द के चरित्र को अङ्कित किया है। रघुवंश ऐतिहासिक काव्य है, जिसमें प्रायः सभी सूर्य्य-वंशियों का वर्णन है। दो दृश्य-काव्यों—विक्रमोर्वशी और शकुन्तला—के नायक सोमवंशी पुरूरवा और दुष्यन्त हैं। इनका कथा-भाग वैदिक[1] और पौराणिक उपाख्यानों से लिया गया है।

नायकों के चुनने में उनकी परिमार्जित रुचि का पता इसी से चलता है कि उन्होंने अपने आश्रयदाता सम्राट् विक्रमादित्य को अपने किसी काव्य का नायक नहीं बनाया है। उनके स्वाभिमान और ब्राह्मणत्व ने——जो सम्राटों को तृणवत् समझता था——उनकी सरस्वती को लौकिक (समकालीन) नृपतियों की चरित-सम्बन्धिनी यशो-गीतियों से अछूता रक्खा।

यह नहीं कहा जा सकता कि सम्राट् विक्रमादित्य लौकिक नृपति थे। 'विक्रमादित्य'[2] यह उपाधि ही सिद्ध करती है कि वे उस काल के महान् क्षमताशाली पुरुष थे। उन्होंने शक और हूण जैसे बर्बर आक्रमणकारियों का मूलोच्छेद कर प्रजा को सुखी किया, अपने नाम का संवत् चलाया,

---

१--देखिए—ऋग्वेद (१०—९५) तथा शकुन्तलोपाख्यान महाभारत।

२–स्वर्गीय डाक्टर जायसवाल के मत से लिखा गया है कि 'विक्रमा-दित्य' उपाधि है। जैन अनुश्रुति के आधार पर उन्होंने खोज की है कि शकों को पराजित कर शतकर्णि ने विक्रमादित्य का विरुद ग्रहण किया और 'विक्रमसंवत्' चलाया। पर कथासरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य नाम है (देखिए लम्बक १८, तरंग १)।

अनेक देवालयों का निर्माण करवाया, अपने समय के चोटी के विद्वानों को दरबार में रक्खा, कलाकारों को प्रोत्साहन दिया तथा कवियों को लाखों का दान किया। कहने का तात्पर्य यह है कि वे आर्य-धर्म, संस्कृति तथा ललित कलाओं के—अपने युग के—सर्वश्रेष्ठ संरक्षक थे।

महाकवि कालिदास कहीं विक्रमचरित लिखते तो इतिहास की दशा आज दूसरी ही होती। दोनों का चरित्र—सम्राट् विक्रमादित्य और महाकवि कालिदास का—आज अन्धकाराच्छन्न न होता। सम्राट् में पूर्वोक्त गुणों के होते हुए भी महाकवि की दृष्टि में वे अलौकिक नहीं जँचे। काव्य-निर्माण में उनकी रुचि प्राचीनता की ओर ही झुकी दीख पड़ती है, जिससे उनकी सात्त्विक मनोवृत्ति का पता चलता है।

हाँ, अपने से कई शताब्दी पूर्व शुङ्ग-राजाओं की ओर वे आकृष्ट हुए हैं। जब बौद्ध-धर्म ने वैदिक-धर्म को नष्ट कर डाला था तब अश्वमेध आदि याग बन्द हो गये थे। उस समय शुङ्गों ने फिर से सनातन-धर्म का उद्धार किया और पवित्र आर्य्य-भूमि पर वैदिक-धर्म और आर्य-सभ्यता का प्रचार किया था। यही कारण है कि अश्वमेध के उद्धारक, यवन-विजेता, शुङ्गवंशावतंस अग्निमित्र को महाकवि ने अपने नाटक का नायक बनाया।

कृष्ण के प्रति आकर्षण होने पर भी कवि के उच्च आदर्शवाद ने उन्हें नायक बनाने से रोका

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम तथा लीलामय भगवान् कृष्ण भारत की सर्वोत्कृष्ट विभूतियाँ हैं। आर्य्य-जाति ने उन्हें मानव से ईश्वर-पद पर प्रतिष्ठित किया है। प्राचीन काल के कवियों से लेकर वर्तमान काल तक के कवियों ने राम और कृष्ण के गुणों का गान

कर अपनी वाणी को पवित्र और सार्थक बनाया है। हमारे घरेलू संस्कारों और उत्सवों में भी इन्हीं के चरित-सम्बन्धी गीत महिलाओं द्वारा आज भी गाये जाते हैं। हिन्दू-जाति के रोम-रोम में राम और कृष्ण व्याप्त हैं। महाकवि कालिदास को रघुवंश में राम के चरित्र-चित्रण करने का सुयोग प्राप्त हुआ है। समस्त रघुवंश में रामचरित्र, माला के सुमेरु की भाँति, विशिष्ट स्थान रखता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वे कृष्ण-चरित्र के अङ्कन में क्यों उदासीन हैं? उसे उन्होंने न महाकाव्य-रूप में और न खण्ड-काव्य रूप में ही लिखा है। पाठकों की ओर से कहा जा सकता है कि अमुक काव्य में अमुक कवि ने अमुक को ही क्यों नायक बनाया? अमुक को क्यों नहीं? इस प्रकार की शङ्काएँ निराधार हैं। नायकों के चुनाव में रुचि-वैचित्र्य कारण हो सकता है। वस्तुतः इस प्रकार का समाधान सन्तोषजनक नहीं है। कारण कि कृष्ण के प्रति महाकवि का आकर्षण अवश्य है।

कृष्ण-चरित से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ वर्णनीय विषय कवि को प्रिय हैं। भगवान् कृष्ण का जीवन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वह, जिसको उन्होंने परम रमणीय व्रज-भूमि में बिताया और जो मथुरा-गमन तक समाप्त हो जाता है। दूसरा है राजनीतिक जीवन जो सान्दीपनि-गुरु-कुल से स्नातक होने के बाद आरम्भ होकर उनके वैकुण्ठ-गमन तक समाप्त होता है। उसका वर्णन कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत में किया है। यह नीरस होने से कवि कोमल प्रकृति के अनुकूल अवश्य न था पर प्रथम जीवन में कुछ सरस और कोमल पहलू हैं जो उनकी रुचि के अनुरूप थे। कालिदास श्रृङ्गारी कवि थे। श्रृङ्गार रस के लिए गोपी, वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना आदि प्रचुर सामग्री

उन्हें सुलभ थी फिर भी उन्होंने गोपी-प्रेम के प्रति कुछ भी नहीं लिखा है। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि महाकवि उच्च आदर्शवादी थे। उन्होंने सर्वत्र दाम्पत्य-विषयक विशुद्ध प्रेम का वर्णन कर साहित्य में एक उच्च आदर्श की, जिसकी प्रेरणा उन्हें आदिकवि के रामायण से प्राप्त हुई है, स्थापना की है। शताब्दियों तक संस्कृत-साहित्य में परवर्ती कवियों द्वारा इसी पुनीत आदर्श की रक्षा हुई है। यह सही है कि शृङ्गार रस के वर्णन में वे इतने तल्लीन हो जाते हैं कि कहीं-कहीं संयम को खो बैठते हैं, जिससे उनकी रचना एक-आध जगह अश्लील[1] और अनुचित[2] हो गई है, तो भी उनकी सरस्वती परकीया (पर-स्त्री) विषयक प्रेम से कलुषित नहीं होने पाई है। उन्होंने अपने काव्यों के आदर्श पात्रों द्वारा पर-स्त्री विमुखता का ही उपदेश दिलाया है।

अयोध्या नगरी की अधिष्ठात्री देवी से, जो द्वार बंद रहने पर भी कमरे में घुसकर शय्या के समीप हाथ जोड़कर खड़ी हो गई थी, महाराज कुश कहते हैं--हे शुभे! तुम कौन हो? किसकी धर्म्मपत्नी हो? मेरे पास किसलिए आई हो? जितेन्द्रिय रघुवंशियों की मनोवृत्ति पर-स्त्री-विमुख होती है—इसे तुम भली भाँति समझकर बात करना।

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किंवा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥

---

[1] ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः —मेघदूत

[2] कुमारसम्भवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः सम्भोगवर्णनम्। इदं पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् इत्याहुः।

—साहित्यदर्पण सप्तम परिच्छेद

इसी प्रकार शकुन्तला के पञ्चम अङ्क में दुष्यन्त कहते हैं—चन्द्रमा केवल कुमुदों को और सूर्य्य कमलों को ही प्रफुल्लित करता है। जितेन्द्रिय लोग पराई स्त्री का स्पर्श तक नहीं करते।

कुमुदान्येव शशांकः सविता बोधयति पंकजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः॥

कृष्ण भगवान् साक्षात् परब्रह्म हैं। उनका अवतार लीलामय है। गोपियाँ उनको प्रिय और ईश्वर दोनों मानकर प्रेम करती थीं। पुराणों में भक्ति-मार्ग के अन्तर्गत गोपियों के प्रेम-रहस्य पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है कि ईश्वर की तन्मयता ही मुक्ति का कारण है, चाहे वह शत्रु-भाव से चाहे मित्र-भाव से, स्वजन-भाव से हो या प्रिय-भाव से। पेशस्कृत् कृमि जिस प्रकार भय से निरन्तर भृङ्ग का ध्यान किया करता है और तन्मयता से वह भृङ्ग-रूप हो जाता है, इसी प्रकार भक्त भी तद्रूप हो जाता है। गोपियाँ प्रिय-भाव से भजन कर मुक्त हो गईं—इस प्रकार के सिद्धान्त से महाकवि कालिदास प्रभावित नहीं हुए।

कालिदास के समय में पुराण वर्तमान रूप में भले ही न रहे हों पर मूल रूप में अवश्य थे। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हरिवंश उस समय मौजूद था। कालिदास के पूर्ववर्ती भास ने बाल-चरित नाटक में कृष्ण की शैशव लीलाओं और गोपियों का उल्लेख किया है। सम्भवतः उन्होंने हरिवंश के आधार पर ही वर्णन किया है। अतः सिद्ध है कि कृष्ण-गोपी-विषयक साहित्य कालिदास के समक्ष उपस्थित था। पुराणों के आध्यात्मिक दृष्टि-कोण से गोपी-प्रेम समीचीन हो सकता है पर वह पाति-व्रत धर्म्म के विरुद्ध क्रान्तिस्वरूप है। फलतः साधारण समाज के लिए अनिष्टकर है। इसी लिए महाकवि ने अपने काव्यों का विषय कृष्ण-चरित नहीं बनाया है।

काव्य-जगत में कुरुचिपूर्ण साहित्य का प्रचार न हो— इस भावना से महाकवि को संयत होना पड़ा है। उन्होंने अपने अभीष्ट विषय पर लेखनी नहीं उठाई, जान-बूझकर मनो-भावों को दबाया किन्तु रोकने पर भी उभड़ा हुआ कृष्ण-प्रेम छलक पड़ा है।

मेघदूत में इन्द्रधनुष से शोभायमान नवीन मेघ के वर्णन में उन्हें कालिन्दी-कूल के पुलिनों में विहार करनेवाले, पीताम्बर-धारी, वंशी तथा मयूर-मुकुट से मण्डित, विचित्र आभायुक्त, वनमाली (अतएव गोपवेषधारी) कृष्ण की याद आ जाती है। वे यक्ष द्वारा मेघ से कहलाते हैं—चमचमाते हुए मयूर-पिच्छ से गोप-वेष-धारी श्याम के साँवले शरीर की भाँति तुम्हारा भी श्यामल शरीर इन्द्रधनुष से परम कान्ति को प्राप्त होगा।

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।

यमुना-रूप में चर्म्मण्वती और जल लेने के लिए अवतीर्ण मेघ जल-केलि-मग्न मुकुन्द के रूप में कवि को दीख पड़ता है।

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे।

सहृदय-शिरोमणि कृष्णमाचार्य एम० ए० विद्यानिधि अपने मेघ-संदेश-विमर्श में लिखते हैं "रमणीयता में 'चैत्ररथ' से भी बढ़कर वृन्दावन दूर स्थित है। कैलाश-यात्रा में उस मार्ग द्वारा मेघ-गमन भौगोलिक दृष्टि से अनुचित था। इसलिए कवि ने 'शार्ङ्गिणो वर्णचौरे' इतने वर्णनमात्र से ही सन्तोष कर लिया।"

वृन्दावन-विहारी व्रज-सुन्दरियों के चञ्चल कटाक्षों के पात्र बना करते थे—इस प्रकार कवि के हृदय में अन्तर्लीन भाव यों प्रस्फुटित हुआ है—चर्म्मण्वती को पार कर हिलते हुए कुन्द-

कुसुमों का अनुसरण करनेवाले, भ्रमरों की श्री को चुरानेवाले, दश-पुर-महिलाओं के नेत्र-कौतूहलों के पात्र बनकर जाना।

कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बम्
पात्रीकुर्वन् दशपुर-वधूनेत्रकौतूहलानाम्।

इस पद्य में भी मेघ-रूप में कृष्ण और दशपुर-वधुओं के रूप में व्रज-वनिताएँ स्पष्ट झलक रही हैं।

गोवर्धन, वृन्दावन, यमुना आदि का कृष्ण-जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य में इनकी ख्याति कृष्ण के सम्बन्ध से ही हुई है। पुराणों के अध्ययन से महाकवि के हृदय में इनके प्रति राग बद्ध-मूल हो गया है।

भगवान् कृष्ण के साथ गोपियाँ वृन्दावन में, जो कि सुन्दरता में कुबेर के चैत्ररथ से किसी अंश में न्यून न था अपितु बढ़ा-चढ़ा था, कोमल-किसलय-प्रधान कुसुम-शयनीय पर यौवन-श्री का उपभोग किया करती थीं और कमनीय गोवर्धन-कन्दराओं में नन्हीं-नन्हीं बूँदों से भीगी शिलाजतु (या शिलाकुसुम) की गन्धवाली शिलाओं पर बैठकर पावस में मयूर-नृत्य को देखा करती थीं—इस प्रकार के भाव उनके हृदय में विद्यमान थे। यद्यपि उन्होंने गोपी-कृष्ण के वन-शैल-विहार की वर्णनाभिलाषा को जबरदस्ती दबाया है, तो भी इन्दुमती के स्वयंवर में सुषेण को लक्ष्य करके प्रकारान्तर से उनके श्रीमुख से निम्नलिखित पद्य——जो तथाकथित स्थलों के वर्णनस्वरूप हैं—निकल ही पड़े—

सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः॥
अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कालिदास ने इन्दुमती के स्वयंवर में अपने सम-सामयिक प्रतिष्ठित राज्यों का—जहाँ से राजा आ-आकर सम्मिलित हुए हैं—वर्णन किया है। यह तत्कालीन क्षमताशाली राज्यों पर प्रकाश डालने का कवि का उद्देश्य है। शूरसेन की राजधानी मथुरा उस समय क्षमता और वैभव से पूर्ण रही होगी। इसी लिए कवि ने उसका वर्णन किया है, हालाँ कि वह महाराज अज के समय में स्थित न थी। उसे शत्रुघ्न ने लवणासुर के वध के अनन्तर यमुना के किनारे बसाया था, जैसा कि रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग में स्वयं लिखा है।—

उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुष-भूषणः।
निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मथुरां मधुराकृतिः॥

हमारी समझ में तो कृष्ण-प्रेम ने ही कृष्ण के क्रीड़ा-स्थलों को लिखने के लिए बाध्य किया। तल्लीनता ने इस अनौचित्य के सोचने का अवसर ही नहीं दिया। इस प्रसङ्ग को गनीमत समझा। यही कारण है कि मथुरा के वर्णन के लोभ को वे संवरण न कर सके।

कालिदास के धार्मिक विचार

(त्रिदेव की एकता और विभिन्न सम्प्रदायों का समन्वय)

महाकवि कालिदास शैव थे। शकुन्तला, विक्रमोर्वशी, रघुवंश तथा मालविकाग्निमित्र के मङ्गलाचरणों में उन्होंने शिव की ही स्तुति कर उनमें अपनी अनन्य भक्ति अभिव्यक्त की है पर कुमार-सम्भव के प्रथम सर्ग में और रघुवंश के दशम सर्ग में ब्रह्मा और विष्णु की देवताओं द्वारा जो स्तुति कराई है उससे स्पष्ट है कि शैव होते हुए भी उनकी ब्रह्मा और विष्णु में भी श्रद्धा थी। वे तीनों देवों को भिन्न-भिन्न नहीं समझते थे। उनका मत था कि

परमार्थ में ब्रह्म एक ही है किन्तु उसका स्वरूप तीन प्रकार से अवस्थित है। वह ब्रह्मा के रूप में सृष्टि, विष्णु-रूप में पालन और रुद्ररूप में संहार करता है जैसा कि उन्होंने निम्नलिखित पद्य म प्रकट किया है—

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने ॥

महाकवि का त्रिदेव पर समान रूप से आदर था। देव-देव शम्भु के विवाह में ब्रह्मा और विष्णु ने आकर उनका जय-जयकार किया। इस स्थल पर उन देवों से शिव की महिमा बढ़ी हुई है। कदाचित् लोगों को यह भ्रम न हो कि शिव की अपेक्षा वे छोटे हैं इसलिए वे समाधान करते हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही मूर्ति के तीन रूप हो गये हैं और वे सब बराबर आपस में एक दूसरे से छोटे बड़े हुआ ही करते हैं। कभी शिवजी विष्णु से बढ़ जाते हैं, कभी ब्रह्मा इन दोनों से बढ़ जाते हैं और कभी ये दोनों ब्रह्मा से बढ़ जाते हैं।

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचित् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥

महाकवि की दृष्टि में विश्व के सभी धर्म और सम्प्रदाय आदर और श्रद्धा के पात्र थे। जिस प्रकार गन्तव्य-प्रदेश एक होने पर भी रुचि-वैचित्र्य से किसी पथिक का मार्ग सीधा होता है और किसी का टेढ़ा, उसी प्रकार परमात्मा की प्राप्ति के भिन्न भिन्न मार्ग हैं पर सभी का ध्येय और अवाप्तव्य (प्राप्य) वे ही है। विभिन्न सम्प्रदायों में समन्वय और सामञ्जस्य की बुद्धि रखने का संदेश उन्होंने रघुवंश में इस प्रकार किया है—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

यद्यपि त्रयी, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, लोकायत आदि आगमों (शास्त्रों) द्वारा वर्णित पुरुषार्थ-साधन भिन्न-भिन्न मार्ग हैं तथापि अन्त में वे सभी तुम्हीं में उसी प्रकार प्रविष्ट होते हैं जिस प्रकार गङ्गा के प्रवाह आने के कारण भिन्न-भिन्न हो जाते हैं पर अन्त में वे समुद्र में ही गिरते हैं।

वर्णाश्रम-धर्म में निष्ठा

स्वभावतः प्राणियों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय होता है। भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने कहा है कि "दुःखात् उद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्" अर्थात् दुःख से सभी घबराते और डरते हैं और सुख सभी को प्यारा है। भारतीय शास्त्रों के मत से सुख दो प्रकार का होता है—अनित्य सुख और नित्य सुख।

इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न सुख अनित्य कहलाता है जिसके अन्तर्गत ऐहिक विषयोपभोग तथा पारलौकिक स्वर्ग-सुख है। नित्य सुख मोक्ष है।

आधिभौतिक सुख कोई निस्सार वस्तु नहीं। वैभवपूर्ण आनन्द-मय जीवन बिताने की लालसा किसको नहीं? इतिहास साक्षी है कि राम-रावण-युद्ध, कौरव-पाण्डवों का संग्राम तथा यूरुप का महान् समर एतदर्थ ही प्रवृत्त हुआ था। बुद्धि-ग्राह्य और अतीन्द्रिय सुख (मोक्ष) सिद्धान्ततः भले सर्वोत्कृष्ट हो किन्तु लोगों की प्रवृत्ति इधर बहुत कम होती है। भगवान् कृष्ण तक को कहना पड़ा कि हजारों मनुष्यों में कोई बिरला ही सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है—'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये'। सच तो यह है कि सभी लोग यदि विरक्त और त्यागी हो जावें तो संसार का उच्छेद ही हो जाय किन्तु ऐसा सम्भव नहीं। त्याग और वैराग्य शिक्षा और संस्कार से होते हैं पर राग प्राप्त होने से अर्थ और काम की ओर मनुष्य का झुकाव प्राकृतिक होता है।

सांसारिक सुख के लिए यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है[१]—हे ब्रह्मन्, राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी (ब्रह्म-तेजवाले) और क्षत्रिय शूर, शरों के चलाने में निपुण तथा शत्रुघाती महारथी हों। गायें दूध देनेवाली, बैल ढोनेवाले, अश्व तीव्र गतिवाले और स्त्रियाँ पति-पुत्रवाली हों। यजमान का युवा पुत्र सभ्य, विजयी और रथी हो। जब जब चाह हो तब तब मेघ बरसे, ओषधियाँ फलवती होकर पकें और हम लोगों का योग-क्षेम (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग और प्राप्त की रक्षा को क्षेम कहते हैं) होता रहे। उपर्युक्त विचार प्रवृत्तिवादियों के हैं। निवृत्तिवादियों का कहना है कि मानवी आवश्यकताओं का--वासनाओं का--अन्त नहीं। जिसने हजार कमाया उसे लाख का लोभ होता है। लाखवाला करोड़ चाहता है। इस प्रकार उसकी उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाती है। महाराज ययाति ने अपने युवा पुत्र पुरु का यौवन ले कर हजारों वर्ष तक विषयों का उपभोग किया। अन्त में उनको उनसे विरक्ति हो गई और उन्होंने अपने अनुभव को इस प्रकार व्यक्त किया—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं,हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्य्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत्॥

भूमण्डल पर जितना धान्य—चावल, जौ—सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं वे सब एक के लिए भी पर्य्याप्त नहीं हैं, इसलिए अत्यन्त तृष्णा को छोड़ दे।

---

[१]आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्च्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वान् आशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णुरथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्, योगक्षेमो नः कल्पताम्—यजुर्वेद

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा यत्तेष्वेव हि जायते॥

पूरे हज़ार वर्ष तक मेरा चित्त विषयासक्त रहा तो भी प्रति-दिन उनमें तृष्णा पैदा ही होती रही। मनुजी भी कहते हैं कि 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति, हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।' अर्थात् विषयों के उपभोग से काम शान्त नहीं होता, प्रत्युत घी से आग की तरह बढ़ता है।

तत्त्वज्ञानियों का उपदेश है—भौतिक सुख और स्वर्गीय सुख—ये दोनों तृष्णा-क्षय के सुख की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं।

यच्च काम-सुखं लोके यच्चादिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णा-क्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

सिद्धान्ततः भारतीय प्राचीन ऋषियों ने प्रवृत्त और निवृत्त दोनों की उपयोगिता स्वीकार कर एक ऐसे धर्म की सृष्टि की जिसमें दोनों का, काल और परिस्थिति के अनुसार, समुचित समावेश किया गया है। वह है वर्णाश्रम-धर्म।

समाज-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिस चातुर्वर्ण्य की स्थापना की गई उसमें संघर्ष का लेश-मात्र भी नहीं। एक वर्ग ने ज्ञानोपार्जन का, दूसरे ने प्रजा-पालन का, तीसरे ने कृषि तथा वाणिज्य का और चौथे ने परिचर्या का कार्य सँभाला। स्वजातीय कार्य के करने में कोई वर्ण निन्दा का पात्र न होता था।

आश्रमों में प्रथम और द्वितीय (ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य), जिनका ग्रहण मनुष्य के प्रथम और मध्यम वय में—यौवन और प्रौढ़ अवस्था में—होता है, प्रवृत्ति के हैं। इन अवस्थाओं में बल, उत्साह आदि गुण मनुष्यों में पर्याप्त रूप से होते हैं और वे

संचय के साधक होते हैं। तृतीय और चतुर्थ आश्रम (वानप्रस्थ और संन्यास) निवृत्ति के हैं। जब वय अधिक हो जाता है तब इन्द्रियाँ शनैः शनैः उपक्षीण होने लगती हैं और पुरुषों की मनोवृत्ति स्वतः शान्ति और वैराग्य की ओर झुकने लगती है। इस प्रकार चारों आश्रमों में प्रवृत्ति और निवृत्ति का समुचित उपयोग किया गया है।

महाकवि कालिदास ने अपने काव्य-नायकों को वर्णाश्रम-धर्म के आदर्श पालक-रूप में चित्रित कर उस पर अनन्य श्रद्धा दिखलाई है और संसार के समक्ष अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया है। रघुवंश में वे लिखते हैं—रघुकुल के नृपति बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य्य धारण कर विद्या का अभ्यास करते थे, यौवन में प्रजा के लिए दार-परिग्रह करते थे, बुढ़ापे में मुनिवृत्ति धारण करते थे अर्थात् वानप्रस्थ हो जाते थे और अन्त में संन्यासी हो योग के द्वारा शरीर का त्याग करते थे। उनका मत था कि चारों आश्रम तीनों वर्णों के लिए हैं। उन्होंने श्रवण-कुमार के पिता, जो कि वैश्य था और उसकी पत्नी शूद्रा थी, के वानप्रस्थ होने का उल्लेख किया है।

संन्यास के विषय में दो मत* हैं—पहला यह कि संन्यास ब्राह्मण को ही लेना चाहिए। दूसरा यह कि तीनों वर्णों को

---

* संजीवनी व्याख्या में महामहोपाध्याय मल्लिनाथ ने दोनों पक्षों का वर्णन इस प्रकार किया है—

पहला पक्ष

१—संन्यास ब्राह्मणों को ही लेना चाहिए, क्योंकि 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' इस श्रुति में ब्राह्मणों को ही संन्यास लेने की आज्ञा है। स्मृति-कार मनु भी कहते हैं—ब्राह्मणों को आत्मा में अग्नि को आरोपित कर घर से निकलना चाहिए अर्थात् संन्यास लेना चाहिए।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् गृहात्।

संन्यास लेना चाहिए। महाकवि ने रघु के संन्यास-ग्रहण का वर्णन किया है जिससे सिद्ध है कि वे दूसरे ही मत को मानते थे।

महाकवि के मत में कर्म और ज्ञान में कोई विरोध नहीं। कर्म ज्ञान का सहकारी है। कर्मों से आत्म-शुद्धि होती है, जिससे ज्ञान के लिए योग्यता[1] उत्पन्न होती है। अतएव उन्होंने महाराज रघु के जातकर्म, विद्यारम्भ, उपनयन, गोदान आदि सभी

विष्णु के चिह्न को धारण करना ब्राह्मणों का धर्म है, क्षत्रियों का नहीं।

मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्।
बाहुजातोरुजातानामयं धर्मो न विद्यते।

(दूसरा पक्ष)

२—"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन प्रव्रज्या ले ले) इस श्रुति में सामान्य रूप से तीनों वर्णों का ग्रहण है। सूत्रकार का भी वचन है कि वेदों का अध्ययन और चारों आश्रम तीनों वर्णों के लिए हैं—"त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः" स्मृति भी कहती है—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को प्रव्रज्या लेनी चाहिए—ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेत् गृहात्। उपर्युक्त (मुखजानामित्यादि) निषेध त्रिदण्डविषयक है। "ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति" यहाँ पर।

[1] स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥—मनु

वेदाध्ययन, व्रत, त्रयी, देवर्षि-पितृतर्पण रूप ब्रह्मचर्यावस्था में किया हुआ याग, पुत्रोत्पादन, पञ्चमहायज्ञ तथा ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से यह शरीर (शरीर से अभिप्राय शरीरावच्छिन्न आत्मा से है) ब्रह्म-प्राप्ति योग्य बनाया जाता है।

संस्कारों का तथा दिलीप, दशरथ, आदि राजाओं के अश्वमेध आदि यागों का उल्लेख कर गृह्य और श्रौत कर्मों पर अपनी आस्था प्रकट की है। अश्वमेध-दीक्षित दशरथ के स्वरूप का चित्रण वे इस प्रकार करते हैं—भुजाओं द्वारा दिगन्त-लक्ष्मी को इकट्ठा करनेवाले, तमोगुण-रहित दशरथ ने अश्वमेध में राज-मुकुट को उतारकर रख दिया था तथा तमसा और सरयू के किनारों को स्वर्ण-यूपों की ऊँचाई से शोभा-युक्त बना डाला था। कुश-मेखला पहने, काले मृग-चर्म तथा गूलर-दण्ड को धारण किये, खुजलाने के लिए मृग-शृङ्ग को पकड़े, अध्वर-दीक्षित दशरथ-देह को, अष्टमूर्ति शङ्कर उसमें वास करते हुए ऐसा उद्भासित कर रहे थे जिसकी समानता न थी।

शम्बूक-वध

प्राचीन वैदिक धर्म में शूद्रों के लिए तीनों आश्रमों के—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ग्रहण करने का विधान नहीं है। वे गृहस्थाश्रम में रहकर तीनों वर्णों की परिचर्य्या द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार स्वर्ग का द्वार तो उनके लिए खुला था किन्तु मोक्ष का बन्द था; क्योंकि बिना संन्यास के मोक्ष हो ही नहीं सकता। इस अभाव को दूर करने के लिए उत्तर काल में भागवत-धर्म ने आश्रमों के विधान न करने पर भी मोक्ष की व्यवस्था उनके लिए कर दी है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से गीता में कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्॥

परम कारुणिक कृष्ण द्वैपायन ने स्त्री, शूद्र और द्विज-बन्धुओं (निन्दित द्विजों) के लिए महाभारत बनाया क्योंकि ये

प्रत्यक्ष रूप से वैदिक-ज्ञान के अधिकारी न थे। महाभारत से परम्परया वैदिक तत्त्वों के लाभ उठाने का स्वत्व शूद्रों को भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था की शृङ्खला भी नहीं टूटी और उनके लिए परमार्थ-प्राप्ति का साधन भी निकल आया।

महाकवि कालिदास के समय में भागवत-धर्म का पर्याप्त प्रचार था और वे महाभारत से भली भाँति परिचित थे। यदि श्री चिन्तामणि विनायकराव वैद्य का यह मत कि आधुनिक महाभारत ई० सन् से २५० वर्ष पूर्व का है, सत्य है तो उन्होंने युधिष्ठिर-नहुष-संवाद भी देखा होगा जिसमें निर्णय किया गया है कि जिस शूद्र में 'सत्य, तप आदि विशिष्ट गुण हों वह शूद्र शूद्र नहीं है।

शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
नैव शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥

इन सब बातों के होते हुए भी प्रत्येक मनुष्य अपने वर्ण-धर्म को करता हुआ ही सिद्धि को प्राप्त हो सकता है--इस प्राचीन परम्परा के वे दृढ़ समर्थक थे और शूद्रों के तप के कट्टर विरोधी थे। उनके दृष्टि-कोण में यह धर्म-व्यतिक्रम था और उसे समाज के लिए घातक तथा करनेवाले को पथ-भ्रष्ट और दण्डनीय समझते थे। रघुवंश के १५वें सर्ग में राम के द्वारा शम्बुक शूद्र तपस्वी का वध कराकर उन्होंने अपनी विचारधारा को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है--

तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम्।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे॥
स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पंकजम्।
ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत्॥
कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम्।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना॥

(तप का अधिकारी न होने के कारण प्रजाओं को दुःख पहुँचानेवाला शूद्र शिर से काटने योग्य है—ऐसा निश्चय करके नियामक राम ने शस्त्र ग्रहण किया।

शस्त्र की चिनगारियों से जिसकी दाढ़ी-मूँछें जल गई हैं—ऐसे शम्बुक के मुख को पाले से मारे हुए कमल की भाँति कण्ठ-नाल से गिरा दिया। वह शूद्र राज-दण्ड पाकर उस सद्गति को पा गया जिसे वह घोर तपश्चर्य्या से, जो कि उसे स्व-पथ से भ्रष्ट करनेवाली थी, न पा सका था।)

महाकवि ने यह कथा वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड से ली है। उसे हम यहाँ पर अविकल उद्धृत किये देते हैं—

राघवस्तमुपागम्य तप्यन्तं तप उत्तमम्।
उवाच स तदा वाक्यं धन्यस्त्वमसि सुव्रत!
कस्यां योन्यां तपोवृद्ध वतसे दृढ़विक्रम!
कौतूहलात्त्वाम् पृच्छामि रामो दाशरथिर्ह्यहम्।
कोऽर्थो मनीषितस्तुभ्यं स्वर्गलाभपरोऽथवा,
वराश्रयो यदर्थं त्वं तपस्यसि सुदुष्करम्।
यमाश्रित्य तपस्तप्त श्रोतुमिच्छामि तापस!
ब्राम्हणो वासि भद्रं ते क्षत्रियो वासि दुर्जयः?
वैश्यस्तृतीयवर्णो वा शूद्रो वा सत्यवाग्भव।
इत्येवमुक्तः स नराधिपेन ह्यवाक्शिरा दाशरथाय तस्मै।
उवाच जातिं नृपपुङ्गवाय यत्कारणे चैव तपः प्रयत्नः।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
अवाक्छिरास्तथा भूत्वा वाक्यमेतदुवाच ह।
शूद्रयोन्यां प्रसूतोऽस्मि शम्बुको नाम नामतः।
देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः।

न मिथ्याहं वदे राम देवलोकजिगीषया ।
शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ तप उग्रं सम स्थितम् ।
भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिर-प्रभम् ।
निष्कृष्य कोशाद्विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः ।

—वा० रा० उत्तरकाण्ड सर्ग ७५

बेचारे शम्बुक का यही अपराध था कि वह अपने को भी मनुष्य समझता था। उच्च जातियों की भाँति उसके हृदय में भी सशरीर स्वर्ग जाने की महत्त्वाकांक्षा थी। एतदर्थ उसने तप करना आरम्भ कर दिया था। स्वयं रामचन्द्र जी उसके व्यक्तित्व से आकृष्ट हुए थे। उसे 'सुव्रत' कह कर धन्यवाद दिया है। कहाँ उसकी नम्रता और सत्य-भाषण और कहाँ उनका सरलता-पूर्वक पहले भेद ले लेना और पुनः वधिकों की भाँति प्रहार कर हत्या करना ! जिसे पढ़कर सहसा पाठकों की सहानुभूति उसकी ओर हो जाती है और हृदय पिघल पिघलकर आँखों से बहने लगता है। रामायण के अनुसार उस हतभाग्य को स्वर्ग भी नहीं हुआ। देवताओं ने राम से कहा—

"स्वर्गभाङ् न हि शूद्रोऽयं त्वत्कृते रघुनन्दन"

कालिदास ने मनु के निम्नलिखित वचन का सहारा लेकर इतना परिवर्तन अवश्य कर दिया है कि उसे स्वर्ग पहुँचा दिया—

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्म्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

पर इस सद्गति पहुँचाने में मारनेवाले राम का कोई एह-सान नहीं है। उनकी नीयत तो अपने कर्तव्य-पालन की थी। अपराधी शम्बुक ने भी सद्गति पाने के उद्देश्य से तपरूप अप-

राध नहीं किया था ।[१] आश्चर्य तो यह है कि उसी रामायण के अयोध्याकाण्ड में श्रवण.कुमार, जो वैश्य पिता और शूद्रा माता से उत्पन्न हुआ था और स्मृतियों की व्यवस्था के अनुसार करण नामक शूद्र था, की तपश्चर्या का वर्णन है ।

वह ब्रह्मवादी मुनि (वानप्रस्थ) अपने माता-पिता की सेवा करता हुआ वन्य-वृत्ति से निर्वाह कर आध्यात्मिक जीवन को व्यतीत करता था । सन्ध्या, अग्निहोत्र तथा रात्रि के अन्तिम भाग में शास्त्रों का अध्ययन उसके दैनिक कार्यों में से थे । उस समय उस शूद्र की तपस्या से दशरथ के राज्य में प्रजा पर कोई

---

[१] लेखक की तुच्छ सम्मति में उत्तरकाण्ड का शम्बुक-वध प्रक्षिप्त है । पीछे से जब द्विजों में कर्म्मणा द्विजत्व नहीं रह गया था, शूद्रों में भी तत्त्व-ज्ञान की पिपासा बढ़ रही होगी । वह कहीं समाज में क्रान्ति का स्वरूप धारण न कर ले और उससे वर्ण-व्यवस्था में गड़बड़ी न पैदा हो जावे, इसलिए यह जोड़ दिया गया है । प्रक्षिप्त होने में कारण है--

(क) श्रवण कुमार की तपस्या से किसी ब्राह्मण का पुत्र क्यों नहीं मरा ? राम की ही भाँति दशरथ का भी धर्म्म (राजधर्म) था कि वे ऐसे पापी का वध करते । पर वहाँ तो वर्णन है कि उक्त तपस्वी ऐसा पहुँचा हुआ था कि यदि दशरथ स्वयं उसके पिता से अपने अज्ञात वधस्वरूप पाप को न कहते तो उनका शिर सहस्र प्रकार से विदीर्ण हो जाता । एक ही ग्रन्थ में एकत्र शूद्र का तप करना पुण्य और अन्यत्र पाप कैसे हो सका है ?

(ख) किष्किन्धा काण्ड में मनु का 'राजभिः कृतदण्डः' यह श्लोक बालि-वध के अवसर पर उद्धृत किया गया है और यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि राजदण्ड पाये हुए स्वर्ग को जाते हैं किन्तु शम्बुक-वध के समय इसकी अवहेलना की गई है । परस्पर-विरोधी विचारों को एक ही ग्रन्थकार कभी नहीं लिख सकता ।

संकट नहीं आया। महाकवि कालिदास ने भी इस आख्यान को आनुपूर्वी रामायण से लिखा है किन्तु परस्पर विरोध पर दृष्टिपात नहीं किया है। शम्बूक का वध कराने में उन्होंने विचार-स्वातन्त्र्य को न प्रकट कर गतानुगतिकता का ही परिचय दिया है। इसका कारण यही है कि कवि अपने देश और काल का प्रतिनिधि होता है। तत्कालीन समाज में शूद्रों के विषय में संकीर्ण विचार रहे होंगे। इसी लिए महाकवि भी उसी प्रवाह में बह गये।

इस प्रसंग को भवभूति ने कालिदास की अपेक्षा कहीं सुन्दर वर्णन किया है। भवभूति के राम ने भी शम्बुक का वध किया है पर हृदय को पत्थर बनाकर। उनके कथन में आत्म-ग्लानि और पश्चात्ताप की ध्वनि है। वे अपने को निष्करुण महसूस करते हैं यद्यपि उन्होंने कठोर कर्तव्य का पालन किया है तथापि उनका जी न चाहता था। अपने दाहिने हाथ को सम्बोधित कर वे कहते हैं[1]—'ओ दाहिने हाथ! मृत ब्राह्मण-शिशु के जीवन के लिए शूद्र-मुनि पर तलवार छोड़। अरे! तू तो राम का गात्र है। जब दुर्वह गर्भ-भार से अलस सीता के निर्वासन तक की तुम में क्षमता है तब तुम्हारे अन्दर दया कैसी?' किसी प्रकार प्रहार कर कहते हैं कि--अब तूने राम का सा--राम जैसे कसाई का सा--काम किया।

शम्बुक दिव्य पुरुष के रूप में आकर राम के चरणों पर गिरता है और दिव्य लोकों की प्राप्ति के कारण उनके वध-कार्य

---

[1] रे हस्तदक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य,
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य बाहुरसि दुर्वहगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते?
अथ कथञ्चित् प्रहृत्य कृतं रामसदृशं कर्म्म।

का अभिनन्दन करता है कि--'सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति'। वाल्मीकि और कालिदास के वर्णन के अनुरूप उसकी तपस्या निरर्थक नहीं हुई प्रत्युत उसकी उत्तम गति का कारण हुई। स्वयं राम कहते हैं कि उग्र तपस्या का फल भोगिए। तैजस वराजलोक (आलोकमय ब्रह्मलोक) जहाँ आनन्द, मोद और पुण्य-सम्पत्तियाँ रहती हैं, तुम्हारे लिए सदा स्थिर रहें।

सत्यकाम जाबालि के सत्य-भाषण करने पर उनके आचाय ने उन्हें ब्राह्मण मानकर उपनयन का अधिकार दे दिया था। जिस शूद्र में शम्बुक का सा सत्य है वह शूद्र कैसा? वह तपस्या का अधिकारी क्यों नहीं है? इस प्रकार गुण और कर्म्म के अनुसार भवभूति भी वर्ण का प्रतिपादन नहीं कर सके और न शूद्र की तपस्या से ब्राह्मण-बालक मर जाता है--इस अन्ध-विश्वास के विरुद्ध कुछ प्रकाश डाल सके तथापि जन्मजात शूद्र की तपस्या का शुभ परिणाम और उसकी महत्त्वाकांक्षा को निष्फल नहीं होने दिया, भले ही वह मर कर मिली हो। शम्बुक कहता है— आप तीनों लोकों में स्वयं ढूँढ़ने योग्य, प्राणियों के स्वामी एवं शरणागत-रक्षक हैं किन्तु इस अधम शूद्र को ढूँढ़ते हुए शत-योजन पार कर आये हैं। यह तपस्या का ही अनुग्रह है, नहीं तो अयोध्या से इस दण्डकारण्य में आना ही कैसे सम्भव था?

आर्य्य-धर्म में आत्म-घात महान् पातक माना गया है। ईशावास्य उपनिषद् में कहा गया है—जो आत्म-घात करते हैं वे मर कर बिना सूर्य्यवाले अन्धकाराच्छन्न लोकों को प्राप्त होते हैं।

"असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।" फिर भी पुराणों में आत्महत्या के कुछ अपवाद बतलाये गये हैं। सभी वर्णों के स्त्री-पुरुष यदि वे

दुश्चिकित्स्य रोगों से पीड़ित हैं या महापातकी हैं तो जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर या पर्वत से गिरकर अथवा अनशन कर प्राण छोड़ सकते हैं। इस प्रकार आत्म-घात से उन्हें स्वर्ग मिलता है और आत्म-घात का पाप भी नहीं लगता।

महाकवि कालिदास ने रघुवंश के अष्टम सर्ग में लिखा है कि इन्दुमती के विरह में महाराज अज ने किसी प्रकार आठ वर्ष व्यतीत किये। शोक का प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर ऐसा पड़ा कि वे असाध्य रोगों के शिकार हो गये। अन्ततोगत्वा उन्होंने प्रियतमा के अनुगमन के लिए मरण को ही लाभ समझा—अपने पुत्र कुमार दशरथ को राजगद्दी सौंप कर प्रायोपवेशन किया (आमरण अनशन को प्रायोपवेशन कहते हैं) और सरयू तथा गंगा के संगम पर शरीर को छोड़ा। इससे उनकी गणना देवताओं में होने लगी और वे नन्दन-कानन में कान्ता के साथ विहार करने लगे।

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देह-त्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकचतुरया संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु।

—रघुवंश अष्टमसर्ग ६५

इस प्रकार स्वोक्ति (कवि की उक्ति) द्वारा अज-देह त्याग के, जो कि आत्म-घात-स्वरूप है, सुन्दर परिणाम को दिखलाकर महाकवि ने तथा-कथित सिद्धान्त की मान्यता अभिव्यक्त की है।

जल से बाह्य-शुद्धि होती है। आन्तरिक शुद्धि सत्य-भाषण, तपश्चर्या आदि से होती है। 'न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा' इस विचार से भी वे अवगत थे तो भी तीर्थों पर उनकी अनन्य श्रद्धा थी। प्रयाग के वर्णन में वे लिखते हैं--

समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥

अर्थात् प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर स्नान करने से जिनका आत्मा पवित्र हो गया है, वे जब शरीर-त्याग करते हैं तब बिना तत्त्व-ज्ञान के ही मुक्त हो जाते हैं। इस पद्य के प्रणयन के समय उनकी दृष्टि में निम्नलिखित श्रुति रही होगी--

"सितासिते यत्र सरितौ संगमे तत्राप्सु पूता दिवमुत्पतन्ति" अन्यत्र ज्ञान से मुक्ति होती है पर तीर्थराज के संगम पर स्नान से ही मुक्ति होती है--इस मत को कवि ने माना है।

मेघदूत में यक्ष द्वारा मेघ से कहा गया है--कुरुक्षेत्र में सरस्वती के पवित्र जल के सेवन से तुम अन्तःशुद्ध हो जाओगे यद्यपि तुम वर्ण से काले हो।

अन्तःशुद्धस्त्वमसि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ।

कालिदास की रचनाशैली में अनुकरण

विश्व के साहित्य में जितने महाकवि हुए हैं और जो माता के गर्भ से ही विश्वतोन्मुखी प्रतिभा लाये हैं, उनको भी अपनी रचना में पूर्ववर्ती रचनाओं का आश्रय लेना पड़ा है। किन्तु छायारूपी नींव पर अपने प्रतिभा-बल पर जो विशाल कवित्व-भवन का निर्माण करते हैं, वे ही 'महाकवि' पद के अधिकारी होते हैं। स्वयं आदिकवि की रचना में ही वैदिक रचना की झलक है। विश्व-विख्यात महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में भी पूर्व रचनाओं का प्रतिबिम्ब है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कालिदास से प्रथम आदिकवि की रामायण, व्यास-विरचित महाभारत, पुराण तथा भास आदि के नाटक थे। यह दूसरी बात है कि वर्तमान समय में उक्त ग्रन्थ परिवर्धित रूप में हों। उक्त ग्रन्थों में से कालिदास ने मुख्यतया रामायणीय

रचना का अनुकरण किया है। यद्यपि आदिकवि की रचना-शैली को आदर्श रख कर महाकवि कालिदास साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, तथापि उन्होंने साहित्य-जगत् में युगान्तर उपस्थित कर दिया है। संस्कृत साहित्य का वह भाग निराला ही है जिसमें कालिदास-कृति की छाप लगी हुई है। अतः यह किसी को कहने का साहस नहीं हो सकता है कि कालिदासीय रचना में पुराने ही भाव हैं, उसमें मौलिकता नहीं।

भाषा का अनुकरण

कालिदास के समय में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाए थीं। शिक्षित समाज तथा राज-दरबार में संस्कृत भाषा ही व्यवहृत होती थी। सर्व-साधारण की भाषा प्राकृत थी। कालिदास के श्रव्य काव्य केवल संस्कृत में हैं, पर दृश्य काव्यों में मिश्र रचना अर्थात् संस्कृत और प्राकृत दोनों हैं। कालिदास ने भाषा-शैली का आदर्श आदिकवि की भाषा का रक्खा है। संस्कृत भाषा की रचना देश-विभागों से विभक्त है। मालूम होता है कि विदर्भ देशवालों की रचना और प्रकार से होती रही होगी और गौड़ देशवालों की अन्य प्रकार से। इसी तरह भिन्न देशों में भाषा-विपर्यय देखकर उत्तरकालीन अलंकार-शास्त्रियों ने गौड़ी, लाटी, पाञ्चाली और वैदर्भी रीतियाँ निर्धारित की हैं। साहित्य-शास्त्रियों ने आदिकवि की रचना में वैदर्भी नीति निश्चित की है। आदिकवि की भाषा मधुर, प्रांजल तथा कोमल है। न तो उसमें कठिनता है और न लम्बे समासों की भरमार है।

दण्डी ने वैदर्भी नाति का लक्षण इस प्रकार किया है—"बंध-पारुष्यरहिता शब्दकाठिन्यवर्जिता। नातिदीर्घसमासा च वैदर्भी रीतिरिष्यते" अर्थात् जिसमें कठिन शब्द न हों, लम्बे समास न हों तथा रचना में कोमलता हो, उसको वैदर्भी रीति

कहते हैं। कालिदास ने भी अपनी रचना में सर्वत्र वैदर्भी रीति को अक्षुण्ण रक्खा है। पाठक कह सकते हैं कि कालिदास ने भाषा-सारल्य अथवा प्रसाद-गुण में आदिकवि के पदांकों का अनुसरण किया है; किंतु वे अपनी रचना में आदिकवि की अपेक्षा अधिक तथा दीर्घ समासों का प्रयोग करते हैं। पर इसका कारण यह है कि कालिदास छंदोरचना में आदिकवि का अनुकरण नहीं करते हैं। उनकी रचना में अनुष्टुप्वृत्त न्यून हैं। दीर्घ वृत्त अधिक हैं। दीर्घवृत्तमयी रचना होने के कारण उन्हें दीर्घ समासों का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु दोनों कवियों ने जहाँ अनुष्टुप् वृत्त में ही कविता की है वहाँ दोनों कवियों की भाषा में कितना सादृश्य है, यह निम्नलिखित उदाहरण में देखिए—

सर्वान् समागतान् दृष्ट्वा सीता काषायवासिनी।
अब्रवीत् प्रांजलिर्वाक्यमधोदृष्टिरवाङ्मुखी;
यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये,
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हसि।

— रामायण

अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः,
आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम्;
वाङ्मनःकर्म्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे
तथा विश्वम्भरे देवि! मामन्तर्धातुमर्हसि।

— रघुवंश

आलंकारिकों ने वीर, रौद्र और बीभत्स रस में 'ओज' गुण का होना भूषण माना है। मध्यकालीन कवि ओज गुण के अभिव्यंजन के लिए उद्धत अक्षरयुक्त दीर्घतर समासों का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए भट्टनारायण के निम्नलिखित पद्य में रेखांकित पदों में उद्धत अक्षर-युक्त दीर्घ समास हैं।

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचाँस्तव देवि भीमः ।

आदिकवि उक्त रसों में भी उद्धत अक्षर-युक्त दीर्घ समासों का प्रयोग नहीं करते। पर विकट अर्थ-प्रतिपादक पद-संदर्भ से पर्याप्त ओज गुण उनकी रचना में झलकता है। आदिकवि ने अपनी रचना में सर्वथा बंध-पारुष्य (रचना की कठोरता) नहीं आने दिया है। पाठक रामायण का युद्धकाण्ड देखें। उसमें उक्त रसों का बाहुल्य है। नीचे दिया हुआ पद रौद्र रस का है। रामचन्द्र ने कुम्भकर्ण की भुजा को पैने बाणों से काट डाला है। कुम्भकर्ण क्रुद्ध होकर साल वृक्ष को उखाड़ता है और रामचन्द्र पर आक्रमण करता है--

स कुम्भकर्णोऽस्त्रनिकृत्तबाहु-
र्महानिकृत्ताग्र इवाचलेन्द्रः ।
उत्पाटयामास करेण वृक्षः,
ततोऽभिदुद्राव रणे नरेन्द्रम् ।

रौद्र रस होने पर भी यहाँ भीषण समास-राशि नहीं है। यही बात निम्नलिखित वीर रस के छन्दों में भी है। विभीषण राम को रावण के पुत्रों का परिचय करा रहे हैं--देखिए, जिसके रथ पर सिंह की ध्वजा फहरा रही है, जो इन्द्रधनुष के समान चमकते हुए अपने धनुष को टंकोर रहा है और जिसके दाँत हाथी के समान फैले हुए हैं उसका नाम इन्द्रजित है। संध्याकालीन मेघों से ढके हुए पर्वत के समान तथा सोने के विविध आभूषणों से सजे हुए घोड़े पर जो चढ़ा हुआ है और जो भाला को उठाकर गरज रहा है वह पिशाच है।

योऽसौ रथस्थो मृगराजकेतु-
र्धुन्वन् धनुः शक्रधनुःप्रकाशम्,
करीव भात्युग्रविवृत्तदंष्ट्रः,
स इंद्रजिन्नाम वरप्रधानः ।
योऽसौ हयं काञ्चनचित्रभाण्ड-
मारुह्य संध्याभ्रगिरिप्रकाशम्;
प्रासं समुद्यम्य मरीचिनद्धं
पिशाच एषोऽशनितुल्यवेगः ॥

महाकवि कालिदास भी रौद्र आदि रसों में दीर्घ समासों द्वारा विकट बन्ध नहीं होने देते थे। निम्नलिखित कुमारसम्भव के पद्यों का मुलाहिजा कीजिए। कुमार स्वामिकार्त्तिक युद्ध में तरकासुर के वचनों को सुनकर क्रुद्ध होते हैं। क्रोध से उनके होठ फड़क रहे हैं। मुख और आँखें विकसित कोकनद के समान अरुण हो गई हैं। धनुष को देखते और अपनी शक्ति का अन्दाजा करते हुए वे बोले—दैत्यराज, अभिमान से जो कुछ आपने कहा है वह उचित ही है। अब मैं आपके श्रेष्ठ भुजबल को देखूँगा। शस्त्र-ग्रहण कीजिए और धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाइए—

इत्थं निशम्य वचनं युधि तारकस्य
कम्प्राधरो विकचकोकनदारुणास्य,
त्रोमालिलोचनसुतो धनुरीक्षमाणः,
प्रोवाच वाचमुचितां परिमृश्य शक्तिम् ।
दैत्याधिराज भवता यदवादि गर्वा-
त्तत्सर्वमप्युचितमेव तथैव किन्तु
द्रष्टास्मि ते प्रवरबाहुबलं वरिष्ठं
शस्त्रं ग्रहाण कुरु कार्मुकमाततज्यम् ।

मालूम होता है कि भीषण समास-घटित कृत्रिम भाषा का प्रचार कालिदास के समय के पश्चात् हुआ।
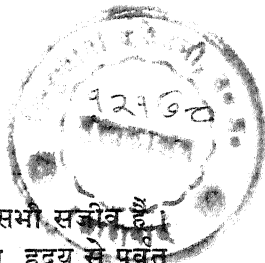
छाया अथवा भावों का ग्रहण

आदिकवि के काव्य-जगत् में चर-अचर सभी सजीव हैं। उनकी भावनाएँ विश्व में व्याप्त हैं। मानवीय हृदय से पर्वत और पक्षियों की भी सहानुभूति है। निर्जन वन में अधम रावण राक्षस ने असहाय मैथिली का अपहरण किया है। मैथिली के करुण क्रन्दन से पर्वतों का भी हृदय दहल गया है। सीता के दुःख से वे भी दुःखी हैं। उन पर जो जलप्रपात होता है वे मानो अश्रु हैं। शिखर रूपी भुजाओं को उठाकर मानो वे चिल्ला रहे हैं कि मैथिली को रावण हरे लिये जा रहा है—

जलप्रपाताश्रुमुखाः शृङ्गैरुच्छ्रितबाहवः।
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः॥

सखी की भाँति मैथिली को मूर्च्छित देखकर कमलिनियों के कमल-मुख फीके पड़ गये और मीन-नयन व्याकुल हो गये। इस तरह कमलिनियाँ भी मैथिली के लिए शोक करती थीं--

नलिन्यो ध्वस्तकमलाः त्रस्तमीनजलेचराः।
सखीमिव गतोच्छ्वासामन्वशोचन्त मैथिलीम्।

कालिदास ने आदिकवि-दर्शित पद्धति का अनुकरण किया है। उनके काव्यों में भी प्रकृति चेतन है। राम-परित्यक्त सीता जब अरण्य में रुदन करती है तब मयूर नृत्य छोड़ देते हैं, हरिणियाँ मुख से चबाये हुए कुशों को त्याग देती हैं और वृक्ष कुसुमों को छोड़ देते हैं। इस तरह मानो समस्त वन मैथिली के दुःख से दुःखी हो रो देता है--

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा
दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः;

तस्याः प्रपन्ने समदुःखभाव-
मत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ।

रामायण में सुन्दर काण्ड की कविता अत्यन्त मधुर और हृदयग्राहिणी है। उसमें विप्रलम्भ शृंगार का खूब ही परिपाक हुआ है। उसे पढ़कर वज्र-हृदय भी द्रवीभूत हो जाते हैं। मालूम होता है कि सुन्दर काण्ड कालिदास को अत्यन्त प्रिय था। उन्होंने उसका अनुशीलन अत्यन्त आदर के साथ निरन्तर किया है। तत्फलस्वरूप मेघदूत की कृति है, जो जगत् के साहित्य में अतुलनीय है। श्रीहनुमान् रामचन्द्र का सन्देश लेकर जब समुद्र में कूदे हैं तब यकायक प्रथम आकाश को उड़ गये हैं। आदिकवि ने उनकी उपमा मेघ से दी है। 'बभौ मेघ इवाकाशे विद्युद्गणविभूषितः' इस पद्यार्ध से उनके मस्तिष्क में मेघ के सन्देशवाहक बनाने की कल्पना जागृत हुई होगी। उन्होंने वियोग-व्यथित रामचन्द्र के समान विरही यक्ष की कल्पना की है।

विरहिणी यक्षपत्नी के रूप में राघव विरह-विधुरा मैथिली का प्रतिबिम्ब अंकित किया है। आदिकवि मैथिली का चित्र इस प्रकार खींचते हैं कि विपत्ति-परम्पराओं से पीड़ित मैथिली की शोभा पाले से मारी हुई कमलिनी की भाँति क्षीण हो गई है, तथा वह चक्रवाक-रहित चक्रवाकी के समान शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गई है।

हिमहतनलिनीव नष्टशोभा व्यसनपरम्परयातिपीड्यमाना ।
सहचररहितेव चक्रवाकी जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना ॥

कालिदास भी यक्षपत्नी के मुख से उसकी पत्नी की दयनीय दशा इस प्रकार कहलवाते हैं—वह मेरा द्वितीय जीवन है, ऐसा समझो। उसका सहचर मैं दूर हूँ। वह चक्रवाकी की भाँति अकेली होगी। इन विरह-दिवसों में उसकी उत्कण्ठा बढ़ रही

होगी। शिशिर ऋतु में नष्ट कमलिनी की भाँति उसकी दशा हो गई होगी।

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां विरहदिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां,
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्।

रामायण में हनुमान के सन्निकट जाने पर सीता के वाम नेत्र के स्फुरण का वर्णन इस तरह है कि सुन्दर केशोंवाली सीता का श्वेत, श्याम तथा अरुण नेत्र—जिसमें घनी बरुनियों की पंक्ति है—भी क्षुभित कमल की भाँति फड़क उठा।

तस्याः शुभं वाममरालपक्ष्मराज्यावृतं कृष्णविशालशुक्लम्।
प्रास्पन्दतैकं नयनं सुकेश्या मीनाहतं पद्ममिवाभिताम्रम्।

मेघदूत में भी वर्णन है—मृगनयनी (यक्षपत्नी) का नेत्र तुम्हारे (मेघ) समीप होने पर मीन ताड़ित कमल की शोभा को धारण करेगा। इसी स्थल पर सीता के उर-स्पन्दन के समान मेघदूत में यक्षपत्नी के उर-स्पन्दन का वर्णन है—

गजेन्द्रहस्तप्रतिमश्च पीनस्तयोर्द्वयोः संहतयोः सुजातः।
प्रस्पन्दमानः पुनरूरुरस्या एकं पुरस्तात्स्थितमाचचक्षे॥

--रामायण

यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्।

—मेघ

दोनों में अन्तर इतना ही है कि वाल्मीकि उसको हाथी की सूँड़ के समान वर्णन करते हैं और कालिदास सरस कदली के खम्भे की तरह। आदिकवि के काव्य को कालिदास ने ऐसा मनन किया है कि उनके हृदय में आदिकवि के भाव जम गये हैं। कविता के समय में कभी कभी मानो उन्होंने यह अनुभव ही

नहीं किया कि यह भाव आदिकवि का है। कालिदास ने रघुवंश* में रघु के शय्या त्यागने का वर्णन इस भाँति किया है— चारणों के जगाने पर रघु ने शय्या को इस प्रकार छोड़ा जैसे राजहंसों के जगाने पर सुप्रतीक गज गङ्गा के पुलिन को छोड़ता है। पर पाठक जान सकते हैं कि इस पद्य की रचना के समय आदि-कवि के इस पद्य का 'गांगे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुंजरम्' भाव वासनान्तविलीन अवश्य था। इन उदाहरणों से भली भाँति सिद्ध होता है कि कालिदास ने कविता में आदिकवि को अपना गुरु माना है और वे उनके दर्शित मार्ग पर चले हैं, जिसमें उन्हें सफलता भी हुई है।

———

* इति विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रैः कुमारः,
सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार।
मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः,
सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः॥

२—कालिदास और श्रीहर्ष

(स्वयंवर-समालोचना)

संस्कृत-साहित्य के आचार्यों में काव्य की परिभाषा में मत-भेद भले ही हो किन्तु रस काव्य-शरीर के प्राण-स्वरूप हैं, इसमें सभी सहमत हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से अभिव्यक्त स्थायी भाव रस कहलाते हैं। इनके कार्यों का नाम अनुभाव है जो अन्तःकरण में उद्बुद्ध रति आदि स्थायी भाव को प्रकाशित करते हैं। स्थायी भाव के साथ जो प्रादुर्भूत और तिरोहित होते हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। उदाहरण के लिए शृंगार रस के नायक और नायिका अवलम्बन हैं, चन्द्र चन्दन रोलम्ब-रुत आदि उद्दीपन हैं, भ्रूविक्षेप कटाक्ष आदि अनुभाव हैं और स्मृति चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव हैं। इसी प्रकार अन्य रसों के भी विभाव आदि हैं। रसों का परिपाक जिनमें भले प्रकार होता है वे उत्तम काव्य कहलाते हैं। शृंगार-प्रधान काव्यों में नायक और नायिका के सम्भोग का भी वर्णन होता है। जहाँ सम्भोग है वहाँ विवाह अपरिहार्य है। काव्यों के नायक अधिकांश हैं क्षत्रिय राजा और क्षत्रिय जाति में प्राचीन काल से ही विवाह स्वयंवर की रीति से होता था। अतः शृंगार-प्रधान काव्यों में स्वयंवर-वर्णन काव्याङ्ग सा हो गया है। यद्यपि सभी रीति-रवाजों का चित्रण काव्याङ्ग ही है तथापि स्वयंवर का रिवाज ऐसा है जिसमें कवियों को रसपरिपाक के लिए बहुत कुछ सामग्री सुलभ हो जाती है।

स्वयंवर में रंगस्थल बनाया जाता था और उसमें देश-देशान्तरों से आये हुए राजाओं के बैठने के लिए मञ्च बनाये जाते थे। निमंत्रित राजगणों के सामने स्वयंवरा पालकी पर लाई जाती थी। राजकुमारी के साथ द्वारपालिका भी होती थी। वह आये हुए राजाओं का परिचय कराती थी, उसके गले में दूर्वाङ्कित मधूक-माला (महुए के फूलों की माला) पहिना देती थी।

इसी स्वयंवर-प्रथा का वर्णन महाकवि कालिदास ने रघुवंश में और कवि दार्शनिक श्री श्रीहर्ष ने नैषधीय-चरित-चर्चा में किया है। ये दोनों कवि प्रतिभाशाली, भावुक, काव्य-कला-कुशल एवं सरस्वती के वर पुत्र हैं। इन दोनों कवियों ने अपने अपने रंग में स्वयंवर का वर्णन किया है और खूब किया है। इस समता-स्थल में प्रस्तुत निबन्ध द्वारा इन दोनों कवियों की पारस्परिक तुलना की जायगी।

इन्दुमती का स्वयंवर

महाकवि कालिदास ने इन्दुमती का स्वयंवर इस प्रकार वर्णन किया है—स्वयंवर में आये हुए नृपति-गण जब अपने-अपने बहुमूल्य आसनों पर आसीन हुए, तब चारणों ने सूर्य्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं की स्तुति की। मांगलिक वाद्य बजने लगे। उस समय वैवाहिक वेष से अलंकृत राजकुमारी इन्दुमती ने, शिविका पर आरूढ हो, दासियों सहित रंगमञ्च के राजमार्ग में ज्यों ही प्रवेश किया त्यों ही राजाओं के हृदय उस पर जा गिरे। शरीर केवल आसनों पर स्थित थे। इन्दुमती को लक्ष्य कर राजाओं ने जो शृंगार-चेष्टाएँ कीं वे मानो प्रणय-सन्देश कहने के लिए दूती थीं। कोई हाथ से नाल (कमल की डंडी) पकड़कर पराग-परिपूर्ण लीला-कमल को घुमाता था और उसके पत्तों से भौंरों को मारता था।

किश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
रजोभिरन्तःपरिवेषवन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥

यहाँ पर कमल-भ्रमण-रूप चेष्टा-विशेष से यही व्यङ्ग्य है कि मुझे तुम लीला-कमल की भाँति घुमाना । पर इन्दुमती समझती है कि इसको हाथ घुमाने की आदत है। कोई विलासी कन्धे से खिसक कर रत्नजटित केयूर की कोटि में लगे हुए चादरे को खींचकर, मुँह तिरछा करता हुआ, फिर उसे अपने स्थान पर करता था ।

विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
प्रावारमुत्क्षिप्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥

यहाँ पर चादरे को उठाकर अपने स्थान पर रख देने से राजा का अभिप्राय यह है कि इसी प्रकार हम तुम्हें आलिंगन करेंगे। पर इन्दुमती समझती है कि उसके अंग में कुछ गोपनीय है—उसे यह ढकता है ।

तदनंतर राजवंश के इतिहास को जाननेवाली सुनन्दा राजकुमारी को मगधेश्वर के पास ले जाकर बोली—ये राजा परंतप हैं, इनका जैसा नाम है वैसे ही इनमें गुण भी हैं। ये शरणागतों की रक्षा करनेवाले तथा प्रजाओं के अनुरंजन में निपुण हैं । इनका स्वभाव अत्यन्त गम्भीर है । वैसे तो अनेक राजा हैं किन्तु पृथिवी राजन्वती (सुन्दर राजावाली) इन्हीं के कारण कहलाती है; क्योंकि नक्षत्र, तारा और ग्रहों से व्याप्त होने पर भी रात्रि चन्द्रमा के द्वारा ही ज्योतिष्मती कहलाती है। निरन्तर यज्ञों के अनुष्ठान के कारण ये बार बार इन्द्र को बुलाते रहे। इसी कारण इन्द्राणी की अलकें पीले कपोलों पर बिखरी रहीं। उनमें मन्दार के कुसुम न गूँथे गये। वर बनाने योग्य इस राजा का पाणि-ग्रहण करना चाहती हो तो

पाटिल-पुत्र के महलों की खिड़कियों में बैठी हुई रमणियों के नेत्रोत्सव करो। हाथ से कुछ नीचे को खिसकती हुई मधूक-माला को लिये हुए इन्दुमती ने सुनन्दा के कहने पर उसे देखा और भाव-शून्य नमस्कार से उसका परित्याग कर दिया। वायु से उठी हुई तरंगें जैसे मानस में राजहंसी को, एक कमल के पास से दूसरे कमल के पास, ले जाती हैं वैसे ही द्वारपालिका सुनन्दा मगधेश्वर के पास से अङ्गराज के पास ले जाती हुई बोली--

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः।
राजा प्रजारंजनलब्धवर्णः परंतपो नामयथार्थनामा॥
कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥
क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः।
शय्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान् मन्दारशून्यानलकाँश्चकार॥
अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरुप्रदेशे।
प्रासादवातायनसंस्थितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम्॥
एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचित् विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा॥

ये अंग देश के राजा हैं, इन्द्र की सहायता के लिए जब ये अमरावती गये थे तब वहाँ अप्सराओं ने इनसे (इनकी) यौवनश्री माँगी थी। इनके गजों को सूत्रकारों (गज-विद्या-विशारदों) ने शिक्षा दी है। ये भूमि पर भी इन्द्र के ऐश्वर्य को भोग रहे हैं। शत्रुओं की रमणियों के कुचों पर मोती जैसे मोटे मोटे आँसुओं को टपकाकर इन्होंने मानो बिना डोरे के ही हार पहना दिये। यद्यपि श्री और सरस्वती स्वभाव से ही भिन्न भिन्न स्थानों पर रहती हैं तथापि इनमें दोनों का निवास है। हे कल्याणि! कान्ति और सूनृत (सत्य और प्रिय) वाणी से सुसम्पन्न तुम्हीं अब

तीसरी संगिनी होने योग्य हो। पर कुमारी अंगराज से आँखें फेरकर सुनन्दा से बोली 'चलो'। (कवि कहता है कि) क्या अंगराज सुन्दर न थे? क्या कुमारी परखना न जानती थी? पर उसने वरण न किया, क्योंकि लोगों की रुचि भिन्न हुआ करती है।

जगाद चैनामयमङ्गनाथः सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥
अनेन पर्य्यासयताश्रुबिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः ॥
निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया ॥
अथाङ्गराजादवतार्य्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत् कुमारी।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यक् द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥

इसी प्रकार राजकुमारी को सुनन्दा अवन्ती, माहिष्मती, शूरसेन, कलिंग, पांड्य और कोसल के राजाओं के पास ले गई पर उसने किसी को पसन्द न किया। अन्त में सुनन्दा उसे राजकुमार अज के पास ले गई। फिर क्या था, जैसे भौंरों की कतार बौर आये हुए आम को पाकर दूसरे वृक्ष की चाह नहीं करती उसी प्रकार राजकुमार अज को—जिनके सभी अंग कोमल और कमनीय हैं—पाकर वह अन्य राजा के पास जाने से विरत हुई।

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योऽपगमात् कुमारी।
नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं कांक्षति षट्पदाली ॥

सुनन्दा ने राजकुमार के पूर्वजों का यश वर्णन कर अज की ओर संकेत करके कहा—इनका कुल, नवयौवन, सौन्दर्य और विनय-प्रधान गुण तुम्हारे ही सदृश हैं। इन्हें तुम स्वीकार करो।

रत्न और काञ्चन का समागम हो। सुनन्दा के कह चुकने पर राजकुमारी ने लज्जा को कुछ कम कर जयमाल की भाँति प्रसाद धवल दृष्टि से मानो स्वीकार कर लिया। यद्यपि राजकुमारी अपने प्रेम-बन्धन को विनय के कारण प्रकट न कर सकी तथापि वह रोमाञ्च के व्याज से कुञ्चित केशोंवालीइन्दुमती के शरीर को फोड़कर निकल आया।

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत् संवरणस्रजेव॥
सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुं।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्वा निराक्रामदरालकेश्याः॥

राजकुमारी को अनुरागवती देखकर सुनन्दा हँस के बोली—आर्य्ये! क्या अब दूसरी जगह चलें? उस समय कुमारी क्रोध के कारण उसे तिरछी दृष्टि से घूरने लगी।

तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखीवेत्रभृदावभाषे।
आर्ये! व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श॥

कालिदास का उपर्युक्त स्वयंवर-वर्णन अतीव सरस और मनोहर है। भाषा अत्यन्त प्रांजल और मधुर है। प्रसाद-गुण सर्वत्र विलस रहा है। वैदर्भी रीति को देखकर विद्यापति वल्हण की निम्न लिखित सूक्ति याद आती है—

अनभ्रवृष्टिश्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्॥

अलंकार मोतियों की भाँति पिरोये हैं। 'अनेन पर्य्यासयता' इस श्लोक में पर्य्यायोक्त अलंकार है। 'मुक्ताफलस्थूलतमान्' इतने अंश में उपमा है। आँसुओं का मोती के सदृश होना इससे कज्जल का अभाव और उससे लगातार आँसुओं का जारी रहना

सूचित होता है। 'तां सैत्र वेत्रग्रहणे' इसमें राजहंसी से उपमा कितनी भावपूर्ण और मर्मस्पर्शिनी है। राजहंसी से उपमा देने का अभिप्राय यही है कि इन्दुमती भी राजहंसी के समान सार और असार का ज्ञान रखती है। अज के अतिरिक्त अन्य राजाओं की स्तुति निन्दा-स्वरूप होने से सर्वत्र वेशालंकार है।

कालिदास का भौगोलिक वर्णन भी अतीव सुन्दर है। प्रत्येक देश के पर्वत, नदी, मन्दिर आदि का इतना सजीव वर्णन किया है कि उनका चित्र आँखों के सामने प्रत्यक्ष खिच जाता है।

दमयन्ती का स्वयंवर

श्रीहर्ष ने दमयन्ती के स्वयंवर का वर्णन यों किया है—त्रिभुवन-सुन्दरी दमयन्ती के रूप पर मोहित हो स्वयंवर में देवता, यक्ष, गन्धर्व और नाग आदि भी सम्मिलित हुए। दिक्-पालों में इन्द्र, यम, अग्नि तथा वरुण आये हैं पर शेष, ब्रह्मा, शिव, कुबेर, नैऋ्त और वायु नहीं आये। अगर शेषजी आते तो भूमि का भार किसे सौंपते ? ब्रह्मा इसलिए नहीं आये कि दमयन्ती उनकी पोती थी। कुबेर अपनी कुरूपता के कारण सम्मिलित न हुए। गिरिजा शिव की अर्धांगिनी है, वह भला शिव के साथ भैमी का विवाह कैसे सहती ? शिव के आने में वही अन्तराय हुई। नैऋत (राक्षस) के न आने का कारण यह है कि वे जानते थे कि राक्षसों का कुण्डिननगर में प्रवेश असम्भव है, क्योंकि भीम के पुरोहित द्वारा वैदिक मन्त्रों से वह नगर सुरक्षित है। पवनदेव इसलिए न गये कि उनका वाहन मृग भैमी के सामने जा ही न सकता था। क्योंकि वह भैमी (दमयन्ती) के नेत्र-कमलों से पराजित हो चुका था (पैदल जाने में हँसी होती)। राजकुमारों में तो कोई भी ऐसा न था जो दमयन्ती के

स्वयंवर में न गया हो। शङ्का होती है कि कुण्डिनपुर में इतना समाज कैसे समाया ? श्रीहर्ष उसका समाधान करते हैं—

अङ्के विदर्भेन्द्रपुरस्य शङ्के न संममौ नैष तथा समाजः ।
यथा पयोराशिरगस्त्यहस्ते यथा जगद्वा जठरे मुरारेः ॥

कुण्डिनपुर की गोद में राजसंघ वैसे ही समा गया जैसे अगस्त्य के हाथ में समुद्र और मुरारि के उदर में सम्पूर्ण संसार।

स्वर्ग और पाताल से आये हुए लोगों का परिचय साधारण मानुषी कैसे करा सकती हैं ? जब राजा भीम को यह चिन्ता हुई तब भक्तवत्सल विष्णु ने सरस्वती को भेजा और उन्होंने स्वयम् सभा में पदार्पण किया। तदनन्तर महाराज भीम ने सम्पूर्ण महाराजाओं के बीच में दमयन्ती को बुलाया। दमयन्ती ने जब राजमण्डल में प्रवेश किया उस समय सभा में ऐसा कोई भी भूपति न था जिसके अंग दमयन्ती के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर हर्ष से रोमाञ्चित न हुए हों और न कोई ऐसा था जिसने अपने दाहिने हाथ की तर्जनी अँगुली के अगले भाग को अँगूठे और मध्यमा से न दबाया हो। न उस समाज में कोई ऐसा भी था जिसने उस खंजन-नयनी को देखकर भौंहें भी न चलाई हों और न सिर हिलाया हो।

आसीदसौ तत्र न कोऽपि भूपस्तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य ।
उल्लेसुरङ्गानि मुदा न यस्य विनिद्ररोमाङ्कुरदन्तुराणि ॥
अस्मिन् समाजे मनुजेश्वरेण तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन ।
पुनः पुनर्लोलितमौलिना न भ्रुवोरुदक्षेपितरां द्वयी वा ॥

युवकगण दमयन्ती में न केवल दृष्टि से ही मग्न हुए और न केवल हृदय से, बल्कि दमयन्ती के निर्मल अंगों और आभूषणों पर उनके शरीर का जो प्रतिबिम्ब पड़ता था उससे यही मालूम होता था कि वे दमयन्ती में सर्वात्मना मग्न हो गये।

तन्निर्मलावयवभित्तिषु तद्विभूषारत्नेषु च प्रतिफलन्निजदेहदम्भात् ।
दृष्ट्या परं न हृदयेन न केवलं तैः सर्वात्मनैव सुतनौ युवभिर्ममज्जे ॥

तदनन्तर सरस्वती ने देवताओं की ओर उँगली उठाकर कहा--इस स्वयंवर में करोड़ों देव आये हुए हैं, जिनका पृथक्-पृथक् वर्णन सौ वर्ष में भी नहीं हो सकता। जिसको चाहो, पसन्द कर लो।

तुम्हारे दर्शन में अत्यन्त अनुराग होने के कारण देवताओं की अनिमेषता (टकटकी लगाकर देखना) अपनी स्वाभाविक अनिमेषता (प्रसिद्ध है कि देवगण पलक नहीं मारते) से मिल गई है। हे मुग्धे! तुम्हारे मुख में देवगण अधरों का स्वाद ले, दो प्रकार के अमृत-पान का आनन्द उठावें।

अभ्यागमन् मखभुजामिह कोटिरेषा
येषां पृथक् कथनमब्दशतातियाति ।
अस्यां वृणीष्व मनसा परिभाव्य किंचित्
यं चित्तवृत्तिरनुधावति तावकीना ॥
एषां त्वदीक्षणरसादनिमेषतैषा
स्वाभाविकानिमिषता मिलिता यथाभूत् ।
आस्ये तथैव तव नन्वधरोपभोगैः
मग्धे विधावमृतपानमपि द्विधास्तु ॥

सरस्वती के कह चुकने पर दमयन्ती ने अञ्जलि बाँधकर देवताओं को नमस्कार किया, जिसे देख संकुचित कमल-द्वन्द्व का संदेह होता था। दमयन्ती ने देवताओं को स्वीकार नहीं किया, इस अपराध के कारण वह देवताओं की ओर भय और चंचलता से देख रही थी। देवताओं ने अपने विषय में अनुराग न देखकर उसे, दया से, अन्यत्र जाने की अनुमति दे दी।

वक्त्रेन्दुसन्निधिनिमीलदलारविन्दद्वन्द्वभ्रमत्तममथाञ्जलिनात्ममौलौ ।
कृत्वापराधभयचञ्चलमीक्षमाणा सान्यत्र गन्तुममरैः कृपयान्वमानि ॥

पालकी ले चलनेवाले (जिनके अधर और चरण, शोख गुलाबी रंग में रँगे हुए कपड़े की तरह, सुर्ख हैं) देव-समूह से वासुकि के पास दमयन्ती को वैसे ही ले गये जैसे नवीन मेघ जलाशय से हंसों की पंक्ति को मानस को ले जाते हैं।

जान्यास्ततः फणभृतामधिपं सुरौघा-
न्माञ्जिष्ठमञ्जिमवगाहि पदोष्ठलक्ष्मीम् ।
तां मानसं निखिलवारिचयान्नवीना
हंसावलीमिव घना गमयांबभूवुः ॥

वासुकि के पास से पुष्कर, प्लक्ष, शाक, क्रौञ्च, शाल्मल और जम्बूद्वीप के अधीश्वरों के पास ले गये। इन द्वीपों में किसी में दधि का समुद्र है, किसी में दूध का समुद्र और किसी में मधु का समुद्र बहता है तथा नाना प्रकार के तरु, पर्वत आदि विनोदस्थल हैं। सरस्वती ने अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये और सब्ज बाग दिखलाये। कहा—मत्त मातङ्ग की भाँति मन्थर-गतिवाली हे दमयन्ती ! यह प्लक्ष द्वीप का राजा मेधातिथि है। आलिंगन से इसके हृदय में तू उसी प्रकार शोभित होगी जैसे विष्णु के हृदय में लक्ष्मी शोभित होती है। प्लक्ष द्वीप में विपाशा नाम की नदी बहती है, वर्षाऋतु में भी जिसमें बाढ़ न आने से किनारे नहीं कटते हैं, जिसमें खिली हुई कमल-पंक्ति तुम्हारे नेत्रों की आरती करेगी। तुम्हें इससे प्रेम करना चाहिए। राजा मेधातिथि ने सम्पूर्ण जल को दुग्ध कर दिया है। अतः अब हंस नीरक्षीर के विवेक में मूढ़ होंगे और कोषों में लिखा हुआ द्व्यर्थक शब्द भी झूठा होगा।

द्वीपं द्विपाधिपतिमन्दपदे प्रशास्ति
प्लक्षोपलक्षितमयं क्षितिपस्तदस्य ।

मेधातिथेस्त्वमुरसि स्फुरदृष्टसौख्या
साक्षाद्यथैव कमला यमलार्जुनारेः ॥
उत्सर्पिणी न किल तस्य तरङ्गिणीया
त्वन्नेत्रयोरहह तत्र विपाशि जाता ।
नीराजनाय नवनीरजराजिरास्ता-
मत्ताब्जसानुरज राजनि राजमाने ॥
एतद्यशोभिरखिलेऽम्बुनि सन्तु हंसा
दुग्धीकृते तदुभयव्यतिभेदमुग्धाः ।
क्षीरे पयस्यपि पदे द्वयवाचिभूयं
नानार्थकोषविषयोऽद्य मृषोद्यमस्तु ॥

पर दमयन्ती ने किसी को न पसन्द किया। द्विपाधि-पतियों की भाँति अवन्ती, गौड़, वाराणसी आदि के राजाओं की भी सरस्वती ने भूरि-भूरि प्रशंसा की किन्तु वह सब व्यर्थ हुई। इसके बाद सरस्वती दमयन्ती को नल के पास ले गई। वहाँ नल के समीप ही इन्द्र, वरुण, यम और अग्नि भी नल का ही रूप धारण किये हुए बैठे थे। सरस्वती ने श्लिष्ट भाषा में देवताओं का परिचय कराया, जिससे नल और देवता दोनों अर्थ सूचित होते थे। दमयन्ती बहुत घबराई कि इसमें नल कौन है? और क्षण भर के लिए वह पागलों की भाँति विविध कल्पनाएँ करने लगी। कभी सोचती थी कि नल ने ही तो उपहास से अपने पाँच शरीर नहीं बना डाले; सम्भव है कि अश्व-विद्या की भाँति इन्हें काय-व्यूह की रचना भी आती हो। कभी सोचती थी कि इनमें कदाचित् एक नल हों दूसरे पुरुरवा, तीसरे कामदेव, चौथे और पाँचवें अश्विनीकुमार हों। कभी सोचती थी कि इस माला को देवी ही के हाथ में क्यों न दे दूँ, और कह दूँ कि इनमें जो वैरसेनि (नल) हों उनके गले में छोड़

दो। फिर सोचती थी कि ऐसा करने पर देवता सरस्वती से नाराज हो जायँगे। जो कुछ मुसीबत पड़े, उसे मैं ही सह लूँ। मेरे कारण देवताओं और सरस्वती में क्यों झगड़ा हो।

इस भाँति नाना प्रकार की कल्पनाएँ करती हुई दमयन्ती जब निर्णय न कर सकी तब उसने षोडशोपचार से देवताओं की पूजा की। तब उसे सरस्वती की श्लिष्ट भाषा समझ पड़ी। इसके अतिरिक्त देवगण जो मालाएँ पहने थे वे अम्लान थीं और नल की पहनी हुई मालाएँ म्लान हो रही थीं। इन चिह्नों से दमयन्ती ने नल को पहचान कर उनके गले में दूर्वाङ्कित मधूक-माला पहना दी। दमयन्ती ने उस मधूक-माला—दूर्वाङ्कुर जिसके मानों रोमाञ्च थे और नल के संग जो शोभित हो रही थी—को ईर्ष्या से देखा। उस समय पुर की सुन्दरियों ने मंगल-गीत गाये और 'उलूलु'-ध्वनि की यद्यपि उनके मुख से हर्ष के कारण स्फुट वर्ण न निकलते थे।

श्रीहर्ष का भी स्वयंवर-वर्णन हृदयग्राही है। भाषा कहीं प्रौढ़ और कहीं प्राञ्जल है, कहीं प्रसाद-गुण झलतकता है और कहीं ओज। श्रीहर्ष शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों के लिखने में चतुर हैं। 'नीराजनाय नवनीरजराजिरास्तामत्राञ्जसानुरजराजनि राजमाने' में अनुप्रास कितना चमत्कार-पूर्ण है। 'जन्यास्ततः' इसमें दमयन्ती की—जिनके चरण और अधर अरुण हैं—उपमा राजहंसश्रेणी से दी गई है, वह भी मनोरम है क्योंकि राजहंसों के भी चंचु और चरण अरुण होते हैं। इसी भाव को झलकाने के लिए कवि ने, 'माञ्जिष्ठमञ्जिमवगाहिपदोष्ठलक्ष्माम्' यह दमयन्ती का विशेषण दिया है। 'एतद्द्वयशोभिराखले' और 'एषां त्वदीक्षणरसादनिमेषतेषा' इन दोनों पदों में अतिशयोक्ति विलक्षण चमत्कार पैदा कर रही है।

विस्तार-भय से हमने पञ्चनली के वर्णन में श्लेष उदाहरण नहीं दिखलाये हैं। पाठकों को नैषध का त्रयोदश सर्ग देखना चाहिए। 'देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या', 'नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो, यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते।' इस श्लोक को देखकर श्रीहर्ष की प्रतिभा पर विस्मय होता है। स्वयंवर-वर्णन में शृङ्गार और शृङ्गाराभास की अभिव्यक्ति में भी कहीं त्रुटि नहीं हो पाई है। पर नैषध जैसे शृंगार-प्रधान काव्य में वीररस का पुनः पुनः उद्दीपन (अयोध्या, कलिङ्ग आदि राजाओं के वर्णन में) सहृदयों के हृदय में विरसता पैदा कराने लगता है और पढ़ने से जी ऊब जाता है। चाहे श्रीहर्ष ने अपने शक्ति-प्रदर्शन के लिए अथवा दमयन्ती को उन राजाओं से वैराग्य पैदा कराने के लिए ही क्यों न ऐसा लिखा हो पर श्रीहर्ष की यह बात हमारी समझ में नहीं आई कि प्रथम उन्होंने नैऋत (राक्षस) के स्वयंवर में न आने का वर्णन किया है और कारण दिखलाया है कि कुण्डिनपुर राजा भीम के पुरोहित के मंत्रों द्वारा सुरक्षित था पर आगे चलकर स्वयंवर में राक्षसों का उल्लेख करते हैं कि अपनी कुशल न देखकर शिविका-वाहक लोग दमयन्ती को राक्षसों के पास न ले गये।

पारस्परिक तुलना

श्रीहर्ष ने दमयन्ती के राजसभा में आने पर जिन शृंगार-चेष्टाओं का वर्णन किया है, वे यद्यपि सुन्दर और स्वाभाविक हैं तथापि कालिदास-वर्णित शृङ्गार-चेष्टाओं को नहीं पातीं, क्योंकि उनमें वाच्यातिशयी व्यङ्ग्य का चमत्कार अधिक है। राजसभा में इन्दुमती ने जब प्रवेश किया तब उसे देखकर राजाओं के अन्तःकरण इन्दुमती पर जा गिरे, शरीर केवल आसनों पर

स्थित थे—"निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्राः देहैः स्थिताः केवलमासनेषु" इस कालिदास के वर्णन की अपेक्षा श्रीहर्ष का यह वर्णन करना कहीं उत्कृष्ट है—"युवकगण केवल दृष्टि से ही न मग्न हुए और न केवल हृदय से, बल्कि दमयन्ती के अंगों और आभूषणों पर प्रतिबिम्बित शरीर के व्याज से वे सर्वात्मना मग्न हो गये"।

पाठकगण! दोनों कवियों का निम्नलिखित, मथुरा और वृन्दावन का, वर्णन पढ़िए।

यस्यावरोधस्तनचंदनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कालिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति॥
संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदु प्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुंदरि यौवन-श्रीः॥
अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलासु।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकंदरासु॥

(रघुवंश षष्ठ सर्ग)

महाराज सुषेण के अन्तःपुर की अंगनाएँ जब जल-क्रीड़ा करती हैं उस समय उनके स्तन-प्रांत से चन्दन धुलता है। उससे ऐसा मालूम होता है कि मथुरा की यमुना में भी गंगा की लहरें मिली हुई हैं।

हे सुन्दरी! इस युवा को पति बनाकर चैत्ररथ से भी रमणीय वृन्दावन उपवन में कोमल किसलय-मिश्रित कुसुमशय्या पर अपनी यौवन-श्री का उपभोग करो। गोवर्धन गिरि की सुन्दर गुफाओं में नन्हीं-नन्हीं बूँदों से सींची हुई शिलाओं पर, जिनमें शिलाजतु की गन्ध आ रही है, बैठ कर वर्षा में मयूरों का नृत्य देखो।

श्यामीकृता मृगमदैरिव माथुरीणां
धौतैः कलिन्दतनयामधि मध्यदेशम्।

तत्रातकालियमहाह्रदनभिशोभा
रोमावलीमिव विलोकायितासि भूमेः ॥
गोवर्धनाचलकलापिचयप्रचार–
निर्वासिताहिनि घने सुरभिप्रसूने।
तस्मिन्नेन सह निर्विश निर्विशंकं
वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि ॥

नैषध—एकादश सर्ग,

कालिय-ह्रद द्वारा जिसने नाभि-सौन्दर्य को प्राप्त किया है, ऐसी यमुना को तुम पृथ्वी की रोमावली की भाँति देखोगी, जो मथुरा का महिलाओं की जलक्रीड़ा में घुली हुई कस्तूरी से मानो श्याम हो रही है।

जिस वृन्दावन में मयूरों के संचार से सर्प भाग गये हैं, सुगन्धित पुष्प खिले हुए हैं और जिसमें सघन छाया है उसमें तुम निश्शंक हो वन-विहार के कौतुकों का उपभोग करो।

मथुरा की यमुना के वर्णन में दोनों कवियों ने जल-केलि का वर्णन किया है। जल-केलि से धुलने पर जो चन्दन जल में मिल रहा है, उससे कालिदास गंगा की लहरों के मिलने की उत्प्रेक्षा करते हैं; और श्रीहर्ष जल-केलि में छुटी हुई कस्तूरी से (स्वतः श्यामा) यमुना को श्यामा की कल्पना कर उस भूमि की रोमावली बनाते हैं। यद्यपि साहित्य-मर्मज्ञों से यह बात नहीं छिपी है कि उक्त पद्य की रचना श्रीहर्ष ने अवश्य कालिदासीय पद्य को देखकर की है तथापि श्रीहर्ष अपहरण से साफ बच गये हैं। उन्होंने काया-पलट कर दी है। मध्यभाग में कालियह्रद नाभि है और यमुना (भूमि) रोमावली है। यह कल्पना कितनी सहृदय-हृदय-हारिणी और शृंगार रस के अनुकूल है। इसके आगे कालिदास की उक्ति साधारण जान पड़ती है। पर श्रीहर्ष

'गोवर्धनाचलकलापि' इस पद्य में भावापहरण से नहीं बच सके। 'कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु' से यह प्रतीयमान है कि सर्पों के न होने से वहाँ तुम निश्शंक हो सुरत करना। इस प्रतीयमान अंश को श्रीहर्ष ने 'गोवर्धनाचलकलापिचयप्रचारनिर्वासितानि' में इस प्रकार से वाच्य रूप दे दिया है। अतः कालिदास की उक्ति में जो बाँकपन है वह इसमें कहाँ ? इसके अतिरिक्त 'सुरभिप्रसूने' की अपेक्षा 'मृदु प्रबालोत्तर-पुष्पशय्ये' में और 'निर्विश निर्विशंकम्'' की अपेक्षा 'निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः'' में जो आनन्द है उसे सहृदयों के हृदय ही जानते हैं। दोनों कवियों की सम्पूर्ण बातों पर ध्यान देने से यह निश्चय करना पड़ता है कि ध्वनि-प्रदर्शन में, सरल भाषा और लालित्य में तथा उपमा देने में कालिदास कुशल हैं और भाषा के गाम्भीर्य में, श्लेष चातुरी में तथा अतिशयोक्ति के लिखने में श्रीहर्ष निपुण हैं। एक की रचना में स्वाभाविक सौन्दर्य है और दूसरे की रचना में काल्पनिक सौन्दर्य। एकत्र कवित्व है, अन्यत्र पाण्डित्य।

———

३—किरातार्जुनीय

कविकुल-कमल-रवि महाकवि भारवि से साहित्य-सेवी सुपरिचित ही हैं। प्रत्येक काव्यपाठी के मुख से 'भारवेरर्थगौरवम्' सुनाई देता है। इनकी कविता माघ जैसे महाकवि की कविता का आदर्श रही है। इससे पाठक कल्पना कर सकते हैं कि साहित्य में इनका कितना उच्च स्थान है। ऐतिहासिक विद्वानों का अनुमान है कि इनका समय ५५० ई० से ६०० तक है। ये किस प्रदेश में, किस कुल में उत्पन्न हुए, किस राजा के आश्रित थे, इनकी जीवन-घटनाएँ क्या हैं, इसका पता कुछ भी नहीं है। इनका जीवन-वृत्त गहन अन्धकार से आच्छन्न है। इनके अंतरात्मा का एकमात्र परिचायक किरातार्जुनीय काव्य है। पाठकों को उसका कुछ परिचय कराया जाता है।

किरातार्जुनीय की गणना महाकाव्य में है

सर्गों द्वारा विभाजित रसात्मक वाक्यसमूह महाकाव्य कहलाता है। महाकाव्य में कोई देव या सद्वंश प्रसूत क्षत्रिय नायक होता है। नायक एक ही नहीं, अनेक हो सकते हैं। नायक-चरित उदार गुणों से अन्वित होना चाहिए। नव रसों में एक रस मुख्य होता है, अन्य रस गौण होते हैं। नाटक के समान महाकाव्य में मुख, प्रतिमुख आदि संधियाँ होती हैं। कथाभाग ऐतिहासिक या लौकिक (किसी सज्जन पुरुष का चरित) होता है। चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में किसी एक की प्राप्ति महाकाव्य का उद्देश्य होता है। सर्गों में रसों के अनुकूल भिन्न भिन्न वृत्तों से रचना होती है। सर्ग के अन्त में वृत्त बदल दिया जाता है। महाकाव्य में आठ सर्ग से न्यून सर्ग न होने चाहिए।

संध्या, प्रभात, ऋतु आदि का वर्णन, काव्यांग होने से, किया जाता है। काव्य का नामकरण कवि के नाम या नायक के नाम के अनुसार होता है। उक्त लक्षणों के अनुसार किरातार्जुनीय महाकाव्य है। पांडुतनय अर्जुन इसके धीरोदात्त नायक हैं। देव-देव शम्भु प्रतिनायक हैं। प्रधान रस वीर है; शृंगार, शान्त आदि गौण रस हैं। कथाभाग भारतीय-उपाख्यान के आधार पर रक्खा गया है। दिव्यास्त्र-प्राप्ति द्वारा वंशलक्ष्मी का उद्धार (अर्थरूप) फल है। किरातार्जुनीय का नामकरण नायक और प्रतिनायक के नाम से किया गया है। किरातार्जुनीय में रीति वैदर्भी, गुण प्रसाद और ओज है। सर्ग अठारह हैं।

कथा-भाग

किरातार्जुनीय-काव्य की रचना महाभारत के वन-पर्व–कैरात-पर्व–की कथा के आधार पर की गई है। वन-पर्व में किरात रूप-धारी शिव और अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। महाभारत-वर्णित किरातार्जुनीय युद्ध का सारांश यह है —पाण्डव लोग द्वैत वन में आरण्यक-जीवन व्यतीत कर रहे थे। एक दिन द्रौपदी ने युधिष्ठिर के सामने क्षमा आदि गुणों की निन्दा तथा क्रोध की प्रशंसा की—यहाँ तक कि धर्माचरण में भी उन्हें संदेह हुआ। द्रौपदी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि धर्म करनेवाले दुःखी रहते हैं। महाराज युधिष्ठिर ने उनकी शंकाओं का समाधान किया। पश्चात् भीमसेन ने धृतराष्ट्र पुत्रों के साथ युद्ध करने का प्रस्ताव किया। उन्होंने कहा कि अज्ञात-वास से रहना हम लोगों के लिए असम्भव है। वनवृत्ति मुनियों का धर्म है, क्षत्रियों का नहीं। महाराज युधिष्ठिर ने भीमसेन को समझाया कि धर्म-त्याग करना मेरे लिए अशक्य है। इसके अतिरिक्त अभी युद्ध करना भी अनुचित है; क्योंकि शत्रुपक्ष प्रबल है। भीष्म, द्रोण आदि

दुर्योधन के सहायक हैं। दोनों भाइयों में इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि वेद-व्यास आ गये। उन्होंने कहा कि मैं तुमको प्रतिस्मृति नाम की विद्या का उपदेश करूँगा। इसके प्रभाव से अर्जुन इन्द्र आदि देवताओं को प्रसन्न कर सकेंगे। वेद-व्यास धर्मराज को विद्या देकर अंतर्धान हो गये।

अर्जुन युधिष्ठिर से विद्या सीखकर तप करने के लिए हिमालय पर्वत पर चले गये। इन्द्रकील पर्वत (हिमालय की पहाड़ी) पर, जहाँ अर्जुन तप कर रहे थे वहाँ, मूक दानव, शूकर का रूप धारण कर, अर्जुन के मारने की ताक में था। यह जानकर भक्तवत्सल भगवान् शम्भु पार्वती सहित उस स्थल पर आ गये। अर्जुन ने शूकर को देखकर मारने के लिए गाण्डीव उठाया। किरात-वेशधारी शम्भु ने अर्जुन को मना किया कि इसे न मारना। यह लक्ष्य मेरा है। अर्जुन ने ध्यान नहीं दिया। दोनों योद्धाओं ने शूकर पर एक साथ प्रहार किया। शूकर मर गया। बाद को अर्जुन और किरात रूपधारी शंकर में युद्ध होने लगा। शिव के ऊपर बाण चलाते-चलाते अर्जुन का अक्षय तूणीर रिक्त हो गया। शम्भु ने गाण्डीव छीन लिया। तब अर्जुन ने शिव के ऊपर तलवार चलाई। उसका भी वार खाली गया। तब मल्ल-युद्ध हुआ। शिवजी ने अर्जुन को जोर से दबाया, जिससे वे मूर्च्छित हो गये। जब चेत आया, तो शंकर भगवान् का ध्यान करने लगे और पार्थिव मूर्ति बनाकर माला चढ़ाई। अर्जुन ने देखा कि वह माला किरात के ही मस्तक पर शोभित हो रही है, तब अर्जुन ने शिव को पहचाना और भक्ति-विह्वल हो चरणों पर गिर पड़े। भक्त-वत्सल शम्भु ने प्रसन्न हो पाशुपत अस्त्र प्रदान किया।

इस भारतीय-कथानक को महाकवि भारवि ने अपने काव्य के सर्गों में इस प्रकार रक्खा है—

प्रथम सर्ग

गुप्तचर 'वनेचर' का द्वैत वन में महाराज युधिष्ठिर के पास जाकर दुर्योधन की शासन-पद्धति का वर्णन करना। वनेचर द्वारा बतलाये हुए समाचार को युधिष्ठिर का द्रौपदी से कहना, जिसको सुनकर द्रौपदी का क्षुभित होना तथा उत्तेजना-पूर्ण भाषण करना।

द्वितीय सर्ग

भीमसेन का द्रौपदी के वाक्यों का समर्थन करना था क्रोध करना। युधिष्ठिर का सान्त्वना देना। वेदव्यासजी का आगमन।

तृतीय सर्ग

वेदव्यासजी का अर्जुन को तप करने की अनुमति देना तथा विद्या का उपदेश देना। अर्जुन का इन्द्रकील पर गुह्यक के साथ जाना।

चतुर्थ सर्ग

शरद्-वर्णन—हिमालय का अवलोकन।

पंचम सर्ग

हिमालय का वर्णन।

षष्ठ सर्ग

अर्जुन का तप करना। तप का वर्णन। अर्जुन के तपोभंग के लिए इन्द्र का अप्सराओं को भेजना।

सप्तम सर्ग

गन्धर्वों सहित अप्सराओं का आना। गन्धर्व-सेना का पर्वत पर निवास करना।

अष्टम सर्ग

कुसुमावचय तथा जल-क्रीड़ा का वर्णन।

नवम सर्ग

संध्या, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी, रतिक्रीड़ा तथा प्रातःकाल का वर्णन।

दशम सर्ग

षट्-ऋतुओं का वर्णन। अर्जुन को मोहित करने के लिए अप्सराओं का हाव-भाव दिखलाना।

एकादश सर्ग

ब्राह्मण का वेष धारण कर इन्द्र का आना। इन्द्र और अर्जुन से बात-चीत। शिव की आराधना के लिए अर्जुन को उपदेश करना।

द्वादश सर्ग

शिव को प्रसन्न करने के लिए अर्जुन का घोर तप करना। अर्जुन को मारने के लिए मूक दानव का आना। यह जानकर, गण-सेना सहित किरात-रूपधारी शंकर का आना।

त्रयोदश सर्ग

वराहरूपी मूक दानव पर शिव और अर्जुन का बाण चलाना। मूक दानव का मरना। वराह के शरीर से बाण निकालते हुए अर्जुन के पास शिव के दूत का आना और उद्धत वचन कहना।

चतुर्दश सर्ग

किरात को अर्जुन का उत्तर देना। पुनः शिव और अर्जुन का युद्ध।

पंचदश सर्ग

शिवसेना का भागना। गण-सेना को स्कंद का आश्वासन देना।

षोडश सर्ग

किरात-रूप-धारी शिव के अद्‌भुत युद्ध-कौशल को देखकर अर्जुन का विस्मित होना।

सप्तदश सर्ग

शिव और अर्जुन का पुनः भीषण युद्ध।

अष्टादश सर्ग

शिव और अर्जुन का मल्ल-युद्ध। अर्जुन के विक्रमातिशय को देखकर शिव का अपना रूप प्रकट करना। अर्जुन का स्तुति करना। दिव्यास्त्र की प्राप्ति। कवि ने भारतीय-उपाख्यान से अपने काव्य में कथा भाग परिवर्तित और परिवर्धित किया। महाभारत में अर्जुन पराजित हुए हैं। किरातार्जुनीय में अर्जुन के पराजित होने का कहीं नाम नहीं है। देव-देव शंभु उनके पराक्रमातिशय को देखकर प्रसन्न हो गये और निज-स्वरूप प्रकट कर दिया। भारत में स्वयं अर्जुन ने शिव को छेड़ा है। किरातार्जुनीय में अर्जुन शिव के दूत द्वारा संग्राम के लिए वाध्य किये गये हैं। अब विचारणीय यह है कि महाकाव्य में कवि को मूल उपाख्यान में परिवर्तन करने का अधिकार है या नहीं। परिवर्तन कवि ने क्यों किया तथा कथा-विपर्यास से काव्य का क्या उपकार हुआ? प्रसिद्ध काव्य-मर्मज्ञ आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में इसकी विवेचना इस प्रकार की है कि यद्यपि कवि को ऐतिहासिक कथा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए तथापि इतिहास में रसावरोधिनी स्थिति हो, तो उसे परिवर्तित कर रस के अनुकूल कथा की कल्पना करनी चाहिए। क्योंकि प्रबन्ध-रचना के समय कवि को रसाधीन होना चाहिए। कवि को इतिहास के निर्वाह से प्रयोजन नहीं है। काव्य की स्वतंत्र ही सत्ता है "कविना प्रबन्धमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते

यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्तां भँक्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्, नहि कवेरितिवृत्तनिर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनम् ।"

भारवि ने गण-सेना को बढ़ा कर प्रकृत वीररस की समुचित सामग्री जमा कर ली है। एकाकी अर्जुन के सामने से गणसेना भाग गई। अर्जुन ने मल्ल-युद्ध में शंकर के कूदते समय चरण पकड़ लिये। इस कथा की कल्पना से कवि ने अर्जुन का—प्रधान नायक का—कितना पराक्रमातिशय दिखलाया है जो सर्वथा धीरोदात्त चरित के अनुकूल है। देव-देव शम्भु से अर्जुन का पराजित होना ऐतिहासिक तथ्य भले ही हो, किन्तु काव्य में ऐसे तथ्य के लिखने से रसभङ्ग अवश्य हो जाता। कवि ने जब गणसेना की कल्पना की तो आवश्यक था कि गणसेना के प्रधान अधिपत्ति शिवजी दूत भेजते। राजा विपक्षी राजा से दूत द्वारा ही बातचीत करते हैं। इसके अतिरिक्त दूत की कल्पना से दूत को विपक्षी राजा से किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, इत्यादि दूत-धर्म पर प्रकाश डालने का अच्छा अवसर मिल गया। इससे कथा-संदर्भ की रमणीयता बढ़ गई है। अप्सराओं की विलासक्रीड़ा आदि के परिवर्द्धन से नायक के चरित्र की उज्ज्वलता बढ़ गई है। पर अतिविस्तार रसदूषक हो गया है।

चरित्र-विश्लेषण

किरातार्जुनीय में वर्णित व्यक्तियों के चरित्र उदात्त हैं। काव्य के पात्रों के स्वभाव का उद्घाटन भिन्न-भिन्न वर्णनों से, विशेषतः संभाषणों से, हुआ करता है। किरातार्जुनीय की रमणीयता उसके संभाषणों से है। इस सम्बन्ध में वह बृहत्त्रयी में सर्वोत्कृष्ट है। उसके सदृश संभाषण अन्य काव्यों में नहीं मिलते। संभाषण द्वारा पात्र उत्तम रीति से अभिव्यक्त हुए हैं।

द्रौपदी

पतिव्रता द्रौपदी अपने पति पाण्डवों के साथ आरण्य-जीवन व्यतीत कर रही है। महाराज युधिष्ठिर का गुप्तचर आता है। वह युधिष्ठिर से दुर्योधन के शासन-कौशल, नीति-नैपुण्य आदि गुणों का वर्णन करता है। महाराज युधिष्ठिर भीमसेन के समक्ष द्रौपदी से बतलाते हैं। द्रौपदी उसे सहन नहीं कर सकती। क्षत्रिय राजकुमारी की नसों में बिजली दौड़ जाती है। छिपी हुई संताप की आग मानो दुर्योधन के ऐश्वर्य-वृत्तान्त की घृताहुति से धधक उठती है। समुद्र की जलराशि मानो प्रलयकालीन पवन से क्षुब्ध हो जाती है। बड़ी ओजस्विनी भाषा में युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए वह भाषण करती है। कहती है "यद्यपि मुझ जैसी नारी का आप सरीखे पंडितों को उपदेश देना एक प्रकार का अपमान ही है तथापि ऐसा करने के लिए मानसिक व्यथाएँ—जिन्होंने नारी-सुलभ आचार को क्षुब्ध कर डाला है—वाध्य कर रही हैं। इंद्र के समान पराक्रमी तुम्हारे पूर्वज नृपतिगण लगातार जिस पृथ्वी पर अधिकार करते चले आये उसे तुमने अपने हाथों से खो दिया है। मतवाला हाथी जैसे पहिनी हुई माला को अपने आप खो देता है, तुम्हारे सिवा और कौन कुलाभिमानी राजा होगा जो कुल-क्रमागत राजलक्ष्मी को कुलीन भार्या की भाँति शत्रुओं के हाथ सौंप देगा?

"मनस्वी जन जिसकी निन्दा करते हैं, उसी मार्ग पर आप इस समय चल रहे हैं। शुष्क शमी वृक्ष को जिस तरह अग्नि प्रज्वलित करती है उस प्रकार मालूम नहीं क्रोध आपको क्यों नहीं उत्तेजित करता? जिन भीमसेन को सदा रक्त-चन्दन लगाने का अभ्यास रहा है, वह आज धूलि-धूसर हो रहे हैं। जो सदा रथ पर चलते थे, वह आज पैदल पहाड़ों पर घूम रहे हैं। तब भी

तुम्हारे चित्त को खेद नहीं होता। क्यों हो, आप तो 'सत्यधन' हैं! मुझे तुम्हारी मनोवृत्ति का पता नहीं। संसार में भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियाँ होती हैं। मैं तो जिस समय तुम्हारी विपत्तियों पर विचार करती हूँ तो मानसिक व्यथाएँ मेरी छाती फाड़ने लगती हैं। पहले तुम बहुमूल्य शय्या पर सोते थे, बन्दी चारण आदि मांगलिक स्तुतियों से तुम्हें जगाते थे। आज कुशमयी भूमि पर सोकर, शृगालों के अशुभ शब्दों से जाग पड़ते हो। शत्रुओं द्वारा की गई तुम्हारी यह दशा मेरे हृदय को जड़ से उखाड़े देती है। शत्रुओं के कारण यह दशा न होती, दैवी होती तो कोई हर्ज न था। विपत्ति को मानी पुरुष उत्सव ही समझते हैं। आप सरीखे यशोधन, जो सदा तेजस्वियों के अग्रसर रहे हैं, ऐसे दुस्सह पराभव को पाकर यदि संतोष कर लेते हैं तो खेद है! तब तो मनस्विता संसार से उठ गई। उसका सहारा देनेवाला कोई नहीं। अथवा पराक्रम-शून्य हो क्षमा ही को यदि सुख का साधन समझते हो, तो लक्ष्मीपति के चिह्न-स्वरूप धनुष को छोड़कर जटाओं को धारण करो और अग्निहोत्र ही किया करो।"

द्रौपदी के इन वचनों में इतना रोष और गर्व है कि उनसे मृत-शरीर की धमनियों में भी रक्त-संचार हो सकता है। वह पाञ्चा-लराज द्रुपद की कन्या, धृष्टद्युम्न की बहिन, क्षत्रियत्वाभिमानिनी राजकुमारी के स्वभाव के अनुरूप है। कवि ने द्रौपदी को स्वाभि-मान-मूर्ति अथवा शरीरिणी तेजस्विता अङ्कित किया है। द्रौपदी के चरित्र में हम एक अत्यन्त कोमल पहलू देखते हैं कि अर्जुन तप के लिए वन जाने को तैयार हैं। द्रौपदी का हृदय विरह शोक से व्याप्त हो जाता है, यद्यपि उसके हृदय में शत्रुओं के प्रति प्रबल प्रतिहिंसा के भाव भरे हुए हैं और वह चाहती है कि किसी प्रकार शत्रुओं का नाश हो, तो भी मानो उसका हृदय सुख से

अर्जुन को नहीं जाने देता । उसकी आँखें आँसुओं से डबडबा आती हैं। कंठ रुँध जाता है। चारों भाइयों को उतना शोक नहीं होता जितना कृष्णा (द्रौपदी) को होता है। कवि कहता है कि जिस तरह दिन के चार पहरों को छोड़ अंधकार रात्रि का आश्रय लेता है, उसी प्रकार अर्जुन के जाने से शोक ने चारों पाण्डवों को छोड़ कर कृष्णा का सहारा लिया ।

तान् भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य ।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे ।

कवि ने द्रौपदी के दृष्टान्त से साफ दिखलाया है कि नारी-हृदय पुरुषों की अपेक्षा स्नेह-पूर्ण और कोमल होता है ।

भीमसेन

भीमसेन धीरोद्धत नायक हैं । महाराज युधिष्ठिर से द्रौपदी ने जो उत्तेजक वाक्य कहे वे भीमसेन को बहुत पसन्द आये। भीम ने महाराज से द्रौपदी की बड़ी प्रशंसा की और सिफारिश की कि द्रौपदी की वाणी आपको भी पसन्द आवे। पुनः आप भी द्रौपदी के ही आशय को प्रकारान्तर से कहते हैं "इससे अधिक और क्या कष्ट होगा कि शत्रुओं ने आपको इस निन्दित दशा को पहुँचाया है जिससे आपका पौरुष नष्ट हो रहा है। आपका पौरुष वह था जिसकी प्रशंसा देवता भी करते थे। अतः अब शत्रुओं के प्रति उपेक्षा ठीक नहीं है। शत्रुओं की बढ़ती हुई प्रभु-शक्ति की जो उपेक्षा करते हैं उनकी लक्ष्मी शीघ्र ही चली जाती है। यदि कहिए कि हम आजकल दुर्बल हैं, शत्रु लोग प्रबल हैं, दुर्बल का प्रबल के साथ युद्ध कैसा ? तो इसका उत्तर सुनिए। जो राजा क्षीण भी हो गये हैं किन्तु उनका स्वाभाविक क्षात्र-तेज च्युत नहीं हुआ है, वे यदि समृद्धि के लिए उद्योग करते हैं तो प्रजा द्वितीया के चन्द्र के समान उनको प्रणाम करती है । कोप और दंड के

कारण पञ्चाङ्ग [कार्य के आरम्भों का उपाय, सहायक (पुरुष, संपत्ति आदि) देश-काल का विभाग, अनर्थ का प्रतीकार और कार्य-सिद्धि पंचांग कहलाते हैं] का ठीक-ठीक निर्णय करनेवाली नीति ही कर्त्तव्य.विषयक उत्साह का सहारा लेती है जैसे कृषि आदि में प्रवृत्त प्रजा भाग्य का सहारा लेती है।

"यदि कहो कि हम लोग उत्साह भी करें तो कैसे कार्य-सिद्धि होगी ? क्योंकि हम लोगों का आजकल सहायक ही कौन है ? तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि मनस्वी पुरुष जो उच्च पद के अभिलाषी हैं वे अपने पौरुष से अनर्थ का प्रतिकार कर सकते हैं। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि शत्रु लोग आप को राज्य लौटा देंगे, तो हे जननाथ ! आपके भाइयों की भुजाओं ने किया ही क्या ? अभिमान को ही धन माननेवाले वीर चंचल प्राणों से स्थायी यश को ही सम्रह करते हैं। वे यश को मुख्य और विद्युत् विलास के समान लक्ष्मी को गौण समझते हैं। जलती हुई आग पर कोई पैर नहीं रखता ; खाक के ढेर पर सभी पैर रखते हैं। पराभव के भय से मानी सुख-पूर्वक प्राण छोड़ देते हैं पर तेज को नहीं छोड़ते। किस फल की अभिलाषा से गर्जते हुए मेघों की ओर सिंह दौड़ता है ? महापुरुषों का स्वभाव ही है कि वे शत्रु की उन्नति को नहीं सह सकते। इसी लिए प्रमाद से उत्पन्न मोह को छोड़कर पराक्रम की ओर ध्यान आकर्षित कीजिए।"

उपर्युक्त भीम की भीषण गर्जना से हम उनके स्वभाव की झलक पाते हैं। उनके चरित में बाहुबल का प्राबल्य तथा पराक्रमैक-पक्षपातिता प्रकट होती है। भीमसेन उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ नहीं हैं। वे बिना समय ही के युद्ध का प्रस्ताव करते हैं, जो सर्वथा अदूरदर्शिता-पूर्ण है। क्रोध-वश विपक्ष के बलाबल का वे कुछ भी विचार नहीं करते। न उनको नैतिक

मर्यादा-भङ्ग का ही ध्यान है। कवि ने भीम के उद्धत भाषण से सूचित किया है कि बात्तियों में प्रायः विवेक नहीं होता। भीमसेन अपने को प्रथम श्रेणी का राजनीतिज्ञ भी समझते हैं। वे अपने विचार से अपने भाषण में नीति का पहलू भी नहीं छोड़ते। उनके भाषण में धीरोद्धत स्वभाव का अच्छा विकास हुआ है।

युधिष्ठिर

महाराज युधिष्ठिर का चरित उनके संभाषण से तृतीय सर्ग में प्रस्फुटित हुआ है। वे सत्यप्रतिज्ञ, क्षमाशील तथा तत्त्वज्ञानी हैं। महाराज्ञी द्रौपदी और भीमसेन के उत्तेजक भाषण करने पर उनका हृदय क्षुभित नहीं हुआ। उत्तेजना-कल्लोलिनी उनके धैर्यतट को भग्न नहीं कर पाती है। वे अत्यन्त मधुर भाषा में अपने प्रिय अनुज को समझाते हैं कि "यद्यपि तुमने भली भाँति निर्णय किया है, तथापि मेरे हृदय को सन्तोष नहीं हुआ। कर्त्तव्य (संधि-विग्रह) का विशेष तत्त्व सुगमता-पूर्वक नहीं जाना जाता है। पुरुष को एकाएक कार्य नहीं कर बैठना चाहिए। अविवेक परम आपत्तियों का स्थान है। विचार कर कार्य करनेवाले की सेवा विपत्तियाँ स्वयं करती हैं। पवित्र शास्त्र का अनुशीलन शरीर को भूषित करता है। शान्ति उसका आभूषण है। शान्ति का भूषण पराक्रम है। पराक्रम का भूषण नीति-संपादित सिद्धि ही है। बुद्धिव्यापी अंधकार से आच्छन्न गहन कर्त्तव्य पर प्रदीप की भाँति विवेकियों द्वारा अनुशीलित शास्त्र ही प्रकाश डालता है। श्लाघ्य गुणवाले महात्माओं के चरित्र पर जो चलते हैं उन पर दैवी अनर्थ भी जो पड़ता है वह उन्नति के समान ही है। विजिगीषु राजा पहले क्रोध को जीत लेते हैं, पश्चात् महत्त्वपूर्ण फल-सिद्धि को (जिसका उत्तर काल में नाश न हो) लक्ष्य कर उपाय से पराक्रम का उपयोग करते हैं। क्षमा के समान शत्रुओं को

नाश करनेवाला कोई दूसरा साधन नहीं है। क्षमारूपी साधन भविष्यत् में उपकारक तथा अधिक कर्म-फलों का कारण है। अभी उपेक्षा करने पर भी दुर्योधन सम्पूर्ण राजाओं को कभी वश में न कर सकेगा। यादव लोग जो हम लोगों के स्वाभाविक स्नेह से बँधे हुए हैं, उनका व्यवहार हम लोगों से जैसा रहता है वैसा दुर्योधन से कभी नहीं। यादवों के सम्बन्धी (रिश्तेदार) और मित्र जो दुर्योधन के नौकर हैं वे स्वार्थवश आजकल दुर्योधन को मान रहे हैं। समय पड़ने पर वे हम लोगों में मिल जायेंगे।

"दुर्योधन मद से उद्धत है। वह राजाओं का अपमान किये बिना नहीं रह सकता। अपमानित राजाओं में भेद-नीति खूब कारगर होगी। साधारण पुरुष अपना अपमान नहीं सह सकता। लोकोत्तर तेजवाला राजमंडल भला कैसे सह सकता है? अमात्य आदिकों में थोड़ा भी भेद राजा को नाश कर डालता है। वृक्षों की डालियों की रगड़ से उत्पन्न आग सम्पूर्ण पर्वत को जला डालती है।" महाराज युधिष्ठिर के भाषण से उनके चरित में धैर्य-सम्पन्नता, धर्मभीरुता आदि विविध गुण प्रकट होते हैं। वे उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ हैं तथा नीति के आचरण के सामने जीवन को भी तुच्छ समझते हैं।

अर्जुन

अर्जुन महाराज युधिष्ठिर के अनुज और किरातार्जुनीय के नायक हैं। तप, इन्द्रियसंयम, भक्ति तथा शौर्य आदि उदात्त गुण उनमें प्रस्फुटित हुए हैं। वे अपने भाइयों में सब से योग्य हैं। पाण्डवों की नष्ट लक्ष्मी के उद्धार का भार उन्होंने अपने कन्धों पर ही लिया है। इनके चरित में इन्द्रियसंयम रूप गुण खूब विकसित हुआ है। वे इन्द्रकील पर्वत (हिमालय की पहाड़ी)

पर घोर तप कर रहे हैं, जिसे देख कर इन्द्र गन्धर्व सहित अप्सराओं को भेजते हैं। उसी पर गंधर्व, अप्सराओं के साथ, आकर विहार करते हैं। कहीं जल-क्रीड़ा होती है, कहीं कुसुमावचय होता है, कहीं पान-गोष्ठी होती है और कहीं संगीत-चर्चा छिड़ती है। इस तरह शांत तपोवन में विलासिता का झोंका आ जाता है।

देवललनाएँ विविध शृंगार-चेष्टाएँ करती हैं। ऋतुराज की रमणीय रातों में चन्द्रोदय होता है। कोई अप्सरा अर्जुन के पास दूती भेजती है। दूती अर्जुन से कहती है—हे निष्पाप! नायिका को सफल-मनोरथ कीजिए। वह तुम्हारे लिए प्राणों को खो रही है। तप तुम पुनः कर सकते हो। अनुरूप युवती का मिलना बहुत दुर्लभ है।

तदनघ तनुरस्तु सा सकामा व्रजति पुरा हि परासुतां त्वदर्थे,
पुनरपि सुलभं तपोऽनुरागी युवतिजनः खलु नाप्यतेऽनुरूपः।

कोई स्वयं कहती है—अरे! कठोरता छोड़। मुनियों का मानस करुणा से मृदु होता है 'जहिहि कठिनतां प्रयच्छ वाचं ननु करुणामृदुमानसं मुनीनाम्'। पर अर्जुन की समाधि भंग नहीं होती है। सचमुच भारवि के अर्जुन ने जितनी जितेन्द्रियता दिखाई है उतनी विश्वामित्र आदि ऋषि भी न दिखला सके। इन्द्र का जब मनोरथ इस प्रकार सफल नहीं होता है, तब वे स्वयं वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण कर अर्जुन को अपने ध्येय से विरत करना चाहते हैं। अर्जुन से कहते हैं कि तुम्हारा वेश मुझे शंकित कर रहा है। मालूम होता है कि तुम शत्रुओं पर विजय-कामना के लिए तप करते हो। जो हिंसाफलक अनुष्ठान करता है वह मढ़ उसी तरह है जैसे कोई प्यासा प्यास शात करने के लिए

जल गन्दा कर डालता है। अर्थ, काम, हिंसा आदि दोष के मूल होते हैं और तत्त्वज्ञान के दुर्निवार विघ्न होते हैं इसलिए रणोत्साह को छोड़ो, तप का नाश मत करो। हे तपोधन ! तुम ऐसा यत्न करो जिससे जन्म-मरण का झंझट छूटे।

अर्जुन उत्तर देते हैं कि आप बिना पूर्वापर जाने हुए मुझे मुनि-धर्म का उपदेश देते हैं। मैं आपके कल्याणमय उपदेश का पात्र नहीं हूँ। मैं क्षत्रिय पाण्डु का पुत्र हूँ। मेरा नाम धनंजय है। मेरे ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर हैं। उनकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। मेरे ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर ने अखिल राज्य, चारों भाई यहाँ तक कि द्रौपदी को भी दाँव पर रख दिया। भवितव्यता कुछ ऐसी ही थी। भरी सभा में मेरी स्त्री का उत्तरीय खींचा गया। शत्रुओं ने मर्मभेदिनी वाणी से हम सबों को घायल किया। शत्रुओं ने इतना सताया है कि आज हम हरिणों के तुल्य जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यदि कहिए कि अन्तःशत्रु स्वरूप दुःख का एक मात्र कारण जो मान है उसे क्यों नहीं छोड़ देते, सो उचित नहीं; क्योंकि जो शक्ति के न होने के कारण नम्र हैं तथा निस्सार होने से लघु हैं ऐसे मानहीन पुरुष तृण के समान हैं। तभी तक पुरुष को लक्ष्मी नहीं छोड़ती और तभी तक पुरुष का यश स्थिर है जब तक वह मान से हीन नहीं होता।

शक्तिवैकल्य नम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः
जन्मिनां मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः।
तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते।

मैं समुद्र-तरंग की भाँति चंचल सुख नहीं चाहता और न नश्वर धन को ही। न अनित्यता का बिजली से डर बाधा-

रहित ब्रह्म-पद को ही चाहता हूँ। मैं क्या चाहता हूँ, वह सुनिए—मैं शत्रुओं के किये हुए अयश रूपी कीचड़ को, वैधव्य-दुःख से पीड़ित, शत्रुओं की स्त्रियों के अश्रु-जल से धोना चाहता हूँ। बिना शत्रुओं को नष्ट किये, बिना वंशलक्ष्मी का उद्धार किये मैं मुक्ति को जयलक्ष्मी का विघ्न समझता हूँ।

प्रमार्ष्टुमयशःपंकमिच्छेयं छद्मना कृतम् ;
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः ।
वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ;
निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः ।

मैंने निश्चय कर लिया है कि पर्वत की चोटी पर या तो मेघों की भाँति विलीन हो जाऊँगा अथवा इन्द्र को प्रसन्न कर अकीर्ति के शल्य को उखाड़ डालूँगा।

अर्जुन के वचनों में क्षात्र तेज है; शत्रुओं के प्रति घोर प्रतिहिंसा के भाव हैं। वह अपनी धुन के पक्के हैं। समग्र काव्य अर्जुन की इन उक्तियों से उद्भासित हो रहा है। जब तक हमारे देश में भारवि जैसे कवि उत्पन्न होते रहे, क्षत्रिय जाति के हृदय में ऐसी वीर-भावनाएँ उठती रहीं, तब तक न विदेशियों के आक्रमण ही हो सके और न भारत परतन्त्रता की शृङ्खला ही में जकड़ा। अर्जुन का पराक्रम हमें चतुर्दश सर्ग में देखने को मिलता है। वह किरातवेश-धारी शिव की सेना से संग्राम करते हैं और एकाकी ही शिव-सेना को भगा देते हैं। स्वयं भगवान् शम्भु उनके अस्त्र-कौशल को देखकर मुग्ध होते हैं। पुनः अर्जुन का तरकस तीरों से खाली हो जाता है। कवच गायब हो जाता है। तब अर्जुन तलवार लेते हैं। तलवार का वार भी खाली जाता है। इससे वह धैर्यशून्य नहीं होते हैं। वीरता के साथ शिव से मल्ल-युद्ध करते हैं। अर्जुन का पराक्रमातिशय देखकर शम्भु

भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं तथा अपना रूप प्रकट करते हैं। अर्जुन का बढ़ा हुआ क्रोध भक्ति-रूप में परिणत हो जाता है। वह चरणों पर गिर कर शिव की स्तुति करने लगते हैं।

कविता के नमूने

आर्य साहित्य में रस-परिपाक ही कवियों के सामने रहा है। उत्तम रस-परिपाक ही उत्कृष्ट कविता की कसौटी है। कविता की अन्तरात्मा रस है। अलंकार, छंद आदि बाह्य सौंदर्य की वस्तु है। अतः हम प्रथम रसपरिपाक ही दिखलाते हैं। महाकवि भारवि रसों की सजीव मूर्ति खड़ी कर देते हैं। निम्नलिखित छंद रौद्ररस के कितने उत्कृष्ट उदाहरण हैं—

त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः।
वीर्यावधूतः स तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम्।

भीष्म के गुरु परशुराम, जिन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों का विध्वंस किया था, वह भी भीष्म के पराक्रम से पराजित हुए तब उनको ज्ञान हुआ कि गुण सत्पात्र में पड़कर उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं।

(अपने शिष्य भीष्म में उनको अपने से भी अधिक धनुर्विद्या दिखलाई दी।)

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि,
धुन्वन् धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः।

कुछ सामर्थ्य न चलने के कारण (भीष्म की मृत्यु उनकी इच्छा पर निर्भर है) स्वयं काल भी जिनसे हारा हुआ सा है, ऐसे भीष्म रण में जब धनुष टंकारेंगे तब किसका हृदय भयभीत न होगा।

सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः।
परिस्फुरिल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम्।

ज्वालारूपी जिह्वा को लपलपाती हुई, जगत् को खा लेने-वाली, प्रलय की आग की तरह क्रुद्ध द्रोण जब बाण बरसावेंगे तब किसकी मजाल है कि उनको सह ले? (अनुवाद में ओज नष्ट हो गया है, पाठक मूल श्लोकों पर ध्यान दें।)

महाकवि भारवि महर्षि व्यासजी का चित्र खींचते हैं कि शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के समान व्यासजी के तेज-पुंज की किरणें फैल रही हैं। उनसे मानो वह सबसे बढ़कर प्रतीत होते हैं। व्यासजी के तेज के सामने युधिष्ठिर आदि की कान्ति फीकी पड़ गई, इसलिए कवि सबसे उन्नत (प्रांशु ऊँचे) होने की उत्प्रेक्षा करता है। कुछ नीली और कुछ पीली जटाओं से सौदामिनी-भूषित मेघ की तरह सुन्दर लगते हैं। उनकी आकृति में इतनी लोकोत्तर भव्यता है जो अपरिचित पुरुषों के भी हृदय में जबरदस्ती स्नेह का संचार करती है। शरीर में ऐसी शान्ति विराजमान हो रही है जो ऋषि के पवित्र अन्तःकरण की गवाही दे रही है। दृष्टि में इतनी मधुरता (निसर्गसौम्यता) और विश्वसनीयता है कि जिस पर पड़ती है, मानों उससे बातें करने लगती हो।

(शान्त रस)

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः;
बिभ्राणमानीलरुचं पिशंगीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम्।
प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन;
प्रसह्य चेतस्सु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम्।
अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम्;
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसम्भाषमिवेक्षितेन।

कवि के प्रत्येक पद से शान्त रस टपक रहा है। पद्यों की प्रशंसा के लिए लेखक के पास उपयुक्त शब्द नहीं। द्रवित होते हुए सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं कि पद्य कितने सरस हैं। विस्तारभय से अन्य रसों के उदाहरण नहीं दिये जाते हैं।

अलङ्कार

अलङ्कार यद्यपि बाह्य सौन्दर्य की वस्तु हैं, बिना अलंकारों के भी कविता, कविता कहला सकती है तथापि अलंकार-रहित कविता की ठीक वही दशा होती है जो आभरण-रहित कामिनी की। सुन्दरी का मुख चाहे जितना रमणीय हो, वह आभरणों के बिना भूषित नहीं होता है। आचार्य भामह ने कहा भी है "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्"। बाह्य सौन्दर्य आंतरिक सौन्दर्य का कारण बन जाता है। जिस तरह आभूषण शरीर के सौन्दर्य को बढ़ाकर शरीरी (आत्मा) का भी उपकार करते हैं उसी तरह अलंकार शब्द और अर्थ की रमणीयता को बढ़ा कर रसों का उपकार करते हैं। अतः कविता में अलंकारों की भी परम आवश्यकता है। महाकवि भारवि का शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों की योजना में अधिक झुकाव है। इनकी रचना में उपमा, निदर्शना, पर्यायोक्ति आदि विविध अलंकार हैं। अलंकार मुख से अर्थगाम्भीर्य लाना कवि की रचनाशैली है। अलंकारों में भी उपमा और अर्थान्तरन्यास का बाहुल्य पाया जाता है। उदाहरण के लिए कुछ पद्य दिये जाते हैं—

तान् भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य;
एकौघभूतं तदशर्म्म कृष्णां विभावरीध्वान्तमिव प्रपेदे।

जिस प्रकार अंधकार दिवस के चार पहरों को छोड़कर रात्रि का सहारा लेता है उसी प्रकार चारों पाण्डवों को छोड़कर अर्जुन के जाने के (वियोगजन्य) शोक ने इकट्ठा होकर कृष्णा

(द्रौपदी) का सहारा लिया। कृष्णा की उपमा कितनी हृदय-हारिणी है। 'कृष्णा' पद विभावरी का भी विशेषण होकर कितना चमत्कार कर रहा है।

सायंकाल जब सूर्य्य डूबने लगते हैं तब वर्तुलाकार हो पश्चिम में एक तरफ नीचे को लटक जाते हैं। किरणों की प्रभा ऊपर फैल जाती है। ऐसे सायाह्न की लक्ष्मी को—डूबते हुए सूर्य्य जिसके मणिनायक (सुमेरु) हैं—मणिमाला की तरह आकाश धारण किये हुए है।

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकश्च्युतिमुपेयुषि भानौ,
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम्।

पश्चिम दिशा में एक तरफ लटके हुए सूर्य का नायक मणि से सादृश्य कितना चमत्कार-पूर्ण है। कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है। 'परिवृत्तिविलोलाम्' विशेषण 'हार-यष्टि' और 'वासरलक्ष्मी' दोनों का है। हारयष्टि (मणिमाला) हिला करती है और सायाह्न की लक्ष्मी भी चंचल होती है।

शरद ऋतु में जब नदियाँ घट जाती हैं तब उनके बालू के किनारों पर प्रतिदिन जल सूखने से लहरों की रेखाएँ पड़ जाती हैं। भारवि ऐसे शुभ्र बालुकामय किनारे की उपमा लहरियादार साड़ी से देते हैं। कितनी अनूठी उपमा है।

कृतोर्मिरेखं शिथिलत्वमायता शनैः शनैः शान्तरयेण वारिणा,
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरंगितक्षौमविपाण्डुसैकतम्।

शिव की सेना के गण जब अर्जुन के पराक्रम से काँप उठते हैं तब निर्विकार शिव की आकृति में वैसे ही विकार उत्पन्न होता है जैसे किसी बड़े सरोवर में प्रतिबिम्बित सूर्य की मूर्ति में तरंग-कंप से विकार उत्पन्न होता है। शिव के काल्पनिक विकार का उपमान कितना सुन्दर है। कैसी अनोखी सूझ है।

क्षोभेण ते नाथ गणाधिपानां भेदं यया वा कृतिरीश्वरस्य;
तरंगकम्पेन महाहृदानां छायामयस्येव दिनस्य कर्तुः।

कवि के उपमालंकार में प्राकृतिक ही उपमान नहीं है, शास्त्रीय भी है। निम्नलिखित छंदों में देखिए—

स भवस्य भवक्षयैकहेतोः सितसहोश्च विधास्यतो सहार्थम्,
रिपुराप पराभवाय मध्यं प्रकृति प्रत्यययोरिवानुबन्धः।

संसार के उच्छेद के कारण शिव और अर्जुन के बीच में पड़कर शत्रु नाश को प्राप्त हुआ। जैसे प्रकृति और प्रत्यय के बीच में पड़कर अनुबंध (इत्संज्ञक वर्ण) प्राप्त होता है।

जयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे।

रमणीय शब्दों में कवि जैसे भावार्थ लाने की इच्छा करता है उसी तरह अर्जुन ने बाणों में विजय की कामना की।

छोटे मुँह बड़ी बात अवश्य है। पर यथार्थ न कहना भी साहित्यिक-न्याय की हत्या करना है। भारवि कवि की अलङ्कार-योजना में एक स्थूल दोष है वह यह है कि एक अलङ्कार में जिस उपमान को लाते हैं उसी उपमान को अन्य अलङ्कारों में भी (अपने एक ही काव्य में) बार बार लाते हैं। उदाहरण के लिए जहाँ अनेक रंगों के मेल का वर्णन करते हैं वहाँ सिवा इन्द्रधनुष के और कोई उपमा उन्हें सूझती ही नहीं। इससे कवि का प्रतिभा-दारिद्र्य सूचित होता है।

मृणालिनी की हरित कान्ति से हरा, अरुण कमलों से लाल तथा लहलहाती हुई धान की पीली बालियों से पीला जल ऐसे शोभित हो रहा है मानो जल नहीं बल्कि इन्द्रधनुष पिघलकर बह चला हो।

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाश शोभया;
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशंगितं द्रुतं धनुःखण्डमिवाहिविद्विषः।

इस पद्य में कवि ने इन्द्रधनुष में उत्प्रेक्षा की है। आगे चल कर शुकावलि का वर्णन करते हैं कि मूँगे के टुकड़ों की भाँति लाल-लाल चोंचों से धान की बालियों को लिये हुए तोतों की कतार—खिले हुए सिरसे के फूल की रंगवाली—इन्द्र-धनुष की तरह सुहावनी लग रही है।

मुखैरसौ विद्रुमभंगलोहितैः शिखापिशंगीकलमस्य बिभ्रती;
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुः श्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति।

यहाँ भी इन्द्रधनुष का ही सादृश्य देते हैं। सातवें सर्ग में देवललनाओं के आभूषणों की कान्ति के वर्णन में पुनः इन्द्र-धनुष का स्मरण कर लेते हैं। अनेक रंगों के मेल के साथ इन्द्र-धनुष का सादृश्य चमत्कारजनक अवश्य है पर बार बार एक ही उपमान का प्रयोग महाकवित्व का विघातक है। महाकवि को नये नये उपमानों की सृष्टि करनी चाहिए। अर्थान्तरन्यास अलं-कार तो कवि के हिस्से में पड़ा है। कालिदास को छोड़कर कदा-चित किसी कवि ने इस अलङ्कार को इतना अपनाया हो। अर्थांतरन्यास में प्रस्तुत विषय का अप्रस्तुत द्वारा समर्थन किया जाता है। इस अलंकार में कवि को जीवन के निजी अनुभवों को साक्षात् कराने का अच्छा अवसर मिलता है।

शरद् ऋतु में न तो श्वेत वकपंक्ति ही और न इन्द्रधनुष से चित्रित मेघमालाएँ ही दीख पड़ती हैं तो भी आकाश परम शोभा को प्राप्त हो रहा है, क्योंकि स्वभाव-सुन्दर वस्तु को बनावट की आवश्यकता नहीं होती।

पतन्ति नास्मिन् विशदाः पतत्त्रिणो
धृतेन्द्रचापा न पयोदपंक्तयः।
तथापि पुष्णाति नभः श्रियं परां
न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्॥

सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़े और पृथ्वी पर वृक्ष चारों ओर घूम रहे हैं।

स गतः क्षितिमुष्णशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा;
असुभिः क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे।

गरम गरम ताजे खून से लथपथ हो पृथ्वी पर गिर पड़ता है। खुर और दाढ़ों से पत्थर को खुरचने लगता है। अर्जुन की ओर ताक कर गुस्से से चीखता है और बाद को प्राण छोड़ देता है।

महाकवि भारवि की कुछ रुचि शब्द-चित्र काव्य की ओर भी है। किरात के पाँचवें सर्ग में यमकों का उल्लेख कर तथा पंद्रहवें सर्ग में गोमूत्रिका आदि बंधों की रचनाकर कवि ने अपना शक्ति-नैपुण्य दिखलाया है। कवि के बिना यत्न के जो शब्दालंकार स्वयं रचना में आ जाते हैं वह तो रस के व्याघातक नहीं होते हैं पर यमक जैसे अलंकारों की रचना में कवि को शब्दों के अन्वेषण में विशेष यत्न करना पड़ता है जिससे रस अप्रधान हो जाता है। अतः सरस काव्य में यमक सदृश अलकारों का विशेष मूल्य नहीं है। यही बात गोमूत्रिका आदि बंधों में भी है। चित्रमीमांसाकार ने, नीरस होने के कारण, ऐसे काव्य को अनादरणीय और आचार्य मम्मट ने 'अधम' बतलाया है। तब प्रश्न होता है कि भारवि जैसे महाकवि ने 'शब्दचित्र' काव्य को अपने काव्य में स्थान क्यों दिया? मालूम होता है कि भारवि के समय में ऐसा भी कवि-समाज रहा होगा जो शब्दप्रधान काव्य का आदर करता रहा होगा। कवि ने निम्नलिखित श्लोक में इस ओर संकेत भी किया है—

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः;
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः।

प्रत्येक पुरुष की रुचि भिन्न भिन्न होती है। कोई अर्थसम्पत्ति की प्रशंसा करता है, कोई शब्द के ही सौन्दर्य की स्तुति करता है। ऐसी स्थिति में 'सर्व-मनोरम' वाणी का होना अत्यन्त दुर्लभ है। कवि ने सर्व-मनोरम काव्य बनाने के हेतु से ही शब्दचित्र को ग्रहण किया। लोकरुचि का प्रभाव कवि पर पड़ना अवश्यम्भावी है। पर यह बात नहीं है कि कवि को रसवर्णन में शब्दचित्र की व्यवधायकता न मालूम हो। कवि ने नवम, दशम सर्ग में जहाँ कोमल रस का वर्णन किया है वहाँ यमकों को फटकने नहीं दिया है। साहित्याचार्य शालग्राम शास्त्री की सम्मति है कि—"भारवि के बंधकौशल दिखलाने पर भी रस-दूषकता नहीं आने पाई है, क्योंकि चतुर्दश सर्ग में कवि ने वीर रस के परिपोष की पराकाष्ठा दिखलाकर स्कंद के आश्वासन पर बन्ध-रचना की है। वक्ता और बोद्धव्य दोनों के अभिज्ञ होने से अधिक दोष नहीं है।

काव्य में कवि की अन्तरात्मा का सूक्ष्म चित्रण

काव्य में कवि की अन्तरात्मा का सूक्ष्म चित्रण रहता है। कवि की कृति उसके मनोगत भावों के प्रतिबिम्ब दिखाने में दर्पण का काम देती है। कवि अपने मनोगत भावों को नाटक के पात्रों द्वारा, महाकाव्य में स्वयं अथवा पात्रों के द्वारा अभिव्यक्त कर सकता है। यद्यपि महाकवि भारवि का जीवनचरित्र उपलब्ध नहीं है तथापि किरातार्जुनीय से हम उनके अन्तःकरण का बहुत कुछ परिचय पाते हैं। भारवि उच्च कोटि के मनस्वी रहे होंगे। काव्य में उन्होंने मनस्विता और मान की अत्यन्त श्लाघा की है। द्रौपदी, भीमसेन तथा नायक अर्जुन के मुख से मान के महत्त्व का वर्णन किया है। कवि के स्वभाव में जितना मान का गौरव है उससे कहीं अधिक विनय का महत्त्व

है। किरातार्जुनीय में जितने संभाषण मिलते हैं उनमें विनय और शिष्टाचार का अतिक्रमण कहीं भी नहीं होने पाया है। अर्जुन के सामने शिव का दूत किरात आता है और उनके ऊपर बाण चुराने का दोषारोपण करता है। शत्रु के सदृश उसके इंगित हैं किन्तु वह दूतोचित शालीनता का परित्याग नहीं करता है। वह प्रणाम करके अर्जुन से कहता है कि शान्ति आपके विनययुक्त मानस को, विशाल तज पवित्र शास्त्रानुशील को तथा देवोपम आकृति निर्मल कुल को बता रही है।

शान्तता विनययोगि मानसं भूरिधाम विमलं तपः श्रुतम् ;
प्राह ते नु सदृशी दिवौकसामन्ववायमवदातमाकृतिः ।

विनय की महिमा को कवि वनेचर द्वारा वर्णन करता है कि विनय तपस्वियों को पुण्य धर्म, सुख चाहनेवालों को सम्पत्ति और योगियों को मुक्ति देती है। अत विनय सज्जनों को क्यों न प्रिय हो ?

तिष्ठतां तपसि पुण्यमासजन् सम्पदोऽनुगुणयन् सुखैषिणाम्,
योगिनां परिणमन् विमुक्तये केन नास्तु विनयः सतां प्रियः ।

भारवि की प्रकृति में गुण-स्तुति (दूसरे के गुणों की दाद देना) रूप गुण भी रहा होगा। किरातार्जुनीय के संदर्भों से इस अनुमान की पुष्टि होती है। शिव के दूत किरात ने अर्जुन के ऊपर लाञ्छन लगाया, उद्धत भाषण किया। अर्जुन भीतर से कुपित होने पर भी उसकी वाग्मिता पर मुग्ध होकर प्रशंसा करते हैं कि जिन्होंने बड़े पुण्य किये हैं उन्हीं के मुख से निर्मल तथा गम्भीर वाणी निकलती है जो स्फुट वर्णोवाली, कर्णों को मधुर और शत्रुओं के हृदय तक को प्रसन्न कर देती है।

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्,
प्रवर्त्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ।

इसी तरह द्वितीय सर्ग में भीमसेन ने युधिष्ठिर के हृदय के विरुद्ध भाषण किया, पर युधिष्ठिर ने भीमसेन की श्लाघा ही की, उनके वीरोचित संभाषण का अभिनन्दन किया। एकादश सर्ग में अर्जुन के मनोगत भावों के प्रतिकूल इन्द्र ने भी कहा था, किन्तु अर्जुन ने शान्ति पूर्वक सुनकर उनकी उपदेश-शैली की सराहना ही की। अपने प्रतिकूल भाषण को शान्तिपूर्वक सुन लेना, सुनकर वक्ता की वर्णनशैली आदि का अभिनन्दन कर पुनः युक्ति-युक्त उत्तर देना कितनी उच्च कोटि की सभ्यता है। यह गुण प्रायः सर्वत्र न्यूनाधिक भावेन किरात के पात्रों में पाया जाता है, जिससे कवि के सभ्य हृदय का परिचय मिलता है। भारवि किसी से माँगना बहुत बुरा समझते थे। उन्होंने याच्ञा को पंडितों की मर्यादा को भङ्ग करनेवाली बतलाया है 'धिक् विभिन्नवुधसेतुमर्थिताम्'।

कवि ने काव्य में वीर-रस को प्रधान रक्खा है जिससे उनकी वीर-प्रकृति का पता चलता है। यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि वह किसी महाराज के यहाँ उच्च अधिकारी के पद पर नियुक्त हों या राजकवि हों। क्योंकि वह षाड्गुण्य (संधि, विग्रह, यान द्वैधी भाव, आसन, संश्रय) के तत्त्वों का तथा राजदूतों का इतना सजीव वर्णन करते हैं कि उनका वह वर्णन आँखों देखा हुआ सा प्रतीत होता है--कवि-कल्पना नहीं मालूम पड़ता। वनेचर ने युधिष्ठिर से दुर्योधन के शासन का कितना सुन्दर चित्र खींचा है। महाकवि की उपमाएँ भी इस बात की गवाही दे रही हैं कि वह राजनैतिक वातावरण में रहे होंगे।

द्युतिं वहन्तो वनितावतंसका हृता प्रलोभादिव वेगिभिर्जलैः;
उपप्लुतास्तत्क्षणशोचनीयतां च्युताधिकाराः सचिवा इवाययुः।

कवि ने इस पद्य में भूषणों की उपमा अधिकारच्युत मंत्री से दी है।

इति तेन विचिन्त्य चापनाम प्रथमं पौरुषचिह्नमाललम्बे;
उपलब्धगुणः परस्य भेदे सचिवः शुद्ध इवाददे च बाणः।

यहाँ भी बाण की उपमा भेदनीति में कुशल मंत्री से देते हैं।

छाया-पथ

महाकवि भारवि की रचना में प्रायः मौलिकता ही है। मौलिकता की दृष्टि से भारवि का दर्जा अत्यन्त ऊँचा है। महाभारत से कथा भाग उन्होंने अवश्य लिया है। महाभारत के पात्र किरात में भी हैं; पर पात्रों की सृष्टि अपने ही ढङ्ग की है। किरातार्जुनीय के पात्रों का संभाषण स्वतंत्र रीति से है। जैसे कोई चतुर चित्रकार किसी प्राचीन चित्र के आधार पर जब नया चित्र खींचता है तो खाका उसी से लेता है; किंतु अपने प्रतिभा-बल से उसे नये-नये रंगों से चमत्कृत कर देता है, ठीक वही दशा भारवि के काव्य की भी है।

इदं च शयनं दृष्ट्वा यच्चासीत्ते पुरातनम्;
शोचामि त्वां महाराज दुःखानर्हं सुखोचितम्।
दान्तं यच्च सभामध्य आसनं रत्नभूषितम्;
दृष्ट्वा कुशवृसीं चेमां शोको मां रुन्धयत्ययम्।

—महाभारत वनपर्व

आज तुम्हारे इस बिछौने को देखकर मुझे बड़ा दुःख है। पहले तुम सभाभवन में हाथीदाँत के रत्नजटित सिंहासन पर बैठते थे। आज तुमको कुशासन पर बैठे देखकर शोक मुझे अत्यन्त पीड़ित कर रहा है। उदाहृत पद्यों की छाया भारवि के निम्नलिखित श्लोकों में है—

पुराधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः;
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः।

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः;
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ।

पर कवि ने इतना परिवर्तन कर दिया है कि यह नहीं कहा जा सकता है कि कवि ने भावापहरण किया है। कहना नहीं होगा, व्यास की द्रौपदी की अपेक्षा भारवि की द्रौपदी का भाषण अधिक जोरदार है। कथन-शैली विशेष चमत्कारजनक है। भारवि ने व्यास के आनुपूर्वी भावों से बचने का उद्योग किया है।

किरातार्जुनीय में कुछ ऐसे पद्य मिलते हैं जिनमें कालिदास के भावों का समावेश है—

मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः;
षड्जसंवाहिनीः केका द्विधा भिन्ना शिखण्डिभिः ।

रघुवंश

(कालिदास ने वर्णन किया है कि मेघ के गर्जन के समान रथ के पहियों की ध्वनि को सुनकर मोर गर्दन उठाकर बोलने लगे।)

सध्वानं निपतितनिर्झरासु मन्द्रैः
संमूर्च्छन्प्रतिनिनदैरधित्यकासु;
उद्ग्रीवैर्घनरवशंकया मयूरैः
सोत्कण्ठं ध्वनिरुपशुश्रुवे रथानाम् ।

किरातार्जुनीय

(रथ-ध्वनि पर्वत की अधित्यकाओं में प्रतिध्वनित होकर मेघ के गर्जन के समान लगती थी, जिसको मयूर बड़ी उत्कण्ठा से सुनते थे।)

आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ।

रघुवंश

(राजा अवन्तिनाथ की छाती चौड़ी है और कमर पतली है) कालिदास उनकी उपमा उल्लिखित सूर्य से देते हैं।

सूर्य को विश्वकर्मा ने चक्र पर चढ़ाकर उनके तेज को छाँट दिया था।

शस्त्राभिघातैस्तमजस्रमीश त्वष्टा विवस्वन्तमिवोल्लिलेख।

किरातार्जुनीय

(भारवि भी अर्जुन की उपमा सूर्य से देते हैं कि शिवजी ने शस्त्रों से अर्जुन को ऐसा काट दिया जैसे विश्वकर्मा ने सूर्य को छाँटा था।)

स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः।

रघुवंश

(धार्मिकों के कृत्य में तुम्हीं विघ्न करते हो तो फिर विधि नष्ट हुई।)

ध्वंसते यदि भवादृशस्ततः कः प्रयातु वद तेन वर्त्मना।

किरातार्जुनीय

(यदि आप भी सनातन मार्ग का नाश कर रहे हैं तो फिर बतलाइए उस पर चलेगा कौन ?)

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'—शकुन्तला

[मधुर (स्वभाव-सुन्दर) आकृतियों का क्या नहीं आभूषण होता है ? अर्थात् जो कुछ भी पहन लें वही आभूषण हैं।]

न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्—किरातार्जुनीय

(स्वभाव-सुन्दर वस्तु को बनावट की आवश्यकता नहीं।)

माघ और किरातार्जुनीय के पद्यों में अधिक प्रतिबिम्ब भाव हैं।

———

४—किरातार्जुनीय और माघ (शिशुपाल-वध)

महाकवि भारवि के 'किरातार्जुनीय' काव्य से मिलता-जुलता संस्कृत-साहित्य में एक और काव्य है, 'शिशुपाल-वध'। इसके रचयिता महाकवि माघ हैं, जो भारवि के पश्चात्, दो शताब्दियों के मध्य—ईसा की सातवीं या आठवीं शताब्दी में हुए हैं। ये दोनों कवि सरस्वती के वर पुत्र, अखिल शास्त्र-निष्णात और विशेषतः राजनीति से प्रेम रखनेवाले हैं। इन दोनों के काव्यों (किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध) की गणना बृहत्त्रयी में है, तथा समग्र भारत में इनका प्रचार है।

माघ ने किरातार्जुनीय का खूब अध्ययन किया होगा और अध्ययनोपरान्त उनके हृदय में इच्छा उत्पन्न हुई होगी कि मैं भी किरातार्जुनीय के टक्कर का काव्य लिखूँ और साहित्यिक जगत् में उनके समान ही यश प्राप्त करूँ। तदनुसार उन्होंने शिशुपाल-वध की रचना की। रचना में किरातार्जुनीय लक्ष्य रहा है। कथा भाग में भी सादृश्य है। भारवि की भाँति माघ ने भी भारतीय उपाख्यान से कथा भाग लिया है। भारतीय-कथानक इतना ही है कि महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के उपलक्ष्य में समग्र राजमण्डल को निमन्त्रित किया था। उसमें सभी देशों के नृपति-गण उपस्थित हुए थे। सभा में पाण्डवों की खासी आव-भगत हुई। कृष्ण को अर्घ्यदान प्रदान किया गया। यह कार्य चेदिराज शिशुपाल को असह्य हुआ। उसने भरी सभा में इसका विरोध किया तथा इसके समर्थन करनेवाले भीष्म की भी निन्दा की। कृष्ण को जब उसने सैकड़ों गालियाँ दीं, तब

उन्होंने सुदर्शन चक्र से उसका शीश काट डाला। माघ ने इतने कथा बीज का किरातार्जुनीय के आधार पर विस्तृत किया है। किरातार्जुनीय में गुप्तचर आता है और दुर्योधन के राज्य का वर्णन करता है। माघ में नारदजी आते हैं, और शिशुपाल के अत्याचारों का वर्णन करते हैं। किरातार्जुनीय में जिस तरह द्रौपदी और भीम ने असमय में युद्ध का प्रस्ताव छेड़ा है और युधिष्ठिर ने उसका खण्डन किया है, उसी तरह शिशुपाल-वध में मन्त्रणा के अवसर पर कृष्ण और बलदेव ने युद्ध की सम्मति दी है और उद्धव ने विरोध किया है। किरातार्जुनीय में, युद्ध से प्रथम, दूत आता है। शिशुपाल-वध में भी युद्ध से प्रथम दूत आने का वर्णन है। किरातार्जुनीय में हिमालय पर्वत का वर्णन है, शिशुपाल-वध में रैवतक का। दोनों काव्य श्री शब्द तथा वंशस्थ वृत्त से प्रारंभ हुए हैं। कुसुमावचाय, जलक्रीड़ा, संध्या, प्रभात, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी, युद्ध तथा ऋतुओं का वर्णन दोनों काव्यों में समान रूप से है। दोनों में वीर रस प्रधान है। उभयत्र चित्र-काव्य भी प्रयुक्त हुआ है। किरातार्जुनीय में व्यास के आने पर जिस तरह युधिष्ठिर ने शिष्टाचार दिखलाया है, उसी तरह शिशुपाल-वध में नारद के आने पर श्री कृष्ण ने। दोनों काव्यों में सदृश-वर्णनों को अब हम विशेष रूप से दिखलाते हैं।

युद्ध-मन्त्रणा

भीम के सम्भाषण का सारांश यह है कि शत्रुओं की बढ़ती हुई प्रभुशक्ति के प्रति उपेक्षा करना ठीक नहीं। यद्यपि हम लोग निस्सहाय हैं, तथापि प्रजा हमारा ही साथ देगी। यदि कहिए कि वनवास की अवधि के बाद कौरव स्वयं राज्य लौटा

देंगे, सो इसकी आशा नहीं; क्योंकि दुर्योधन राज्य-लक्ष्मी को भोग कर उसको कभी न छोड़ेगा अथवा वह लौटा भी दे तो फिर आपके भाइयों ने किया ही क्या? उनका भुज-बल व्यर्थ है। सिंह स्वयं हाथियों को मारकर अपनी जीविका उपार्जन करता है। तेजस्वी पुरुषों की वृत्ति दूसरों के अधीन नहीं होती। अतः युद्ध करना ही समुचित है। युद्ध में, मालूम नहीं, किसकी जीत हो। इस सन्देह को हृदय में लाना ही नहीं चाहिए। अभिमान को ही धन माननेवाले वीर चंचल प्राणों से स्थायी यश का ही संग्रह करते हैं। वे यश को तो मुख्य और विद्युत्-विलास के समान चंचला लक्ष्मी को गौण समझते हैं। जलती हुई आग पर कोई पैर नहीं रखता, खाक के ढेर पर सब रखते हैं। पराभव के भय से मानी सुखपूर्वक प्राण छोड़ देते हैं पर तेज को नहीं छोड़ते। किस फल की अभिलाषा से गरजते हुए मेघों की ओर सिंह दौड़ता है? महापुरुषों का स्वभाव ही है कि वे शत्रु की उन्नति को नहीं सह सकते। इसलिए प्रमाद से उत्पन्न मोह को छोड़कर युद्ध कीजिए।

युधिष्ठिर का उत्तर

युधिष्ठिर ने कहा कि मनुष्य को यकायक कार्य नहीं करना चाहिए। अविवेक परम आपत्तियों का स्थान है। विचार कर कार्य करनेवालों की सेवा संपत्तियाँ स्वयं करती हैं। पवित्र शास्त्र का अनुशीलन शरीर को भूषित करता है। शान्ति उसका आभूषण है। शान्ति का भूषण पराक्रम है, और पराक्रम का भूषण नीति सम्पादित सिद्धि ही है। विजिगीषु राजा को पहले क्रोध को जीतना चाहिए, पश्चात् महत्त्वपूर्ण फलसिद्धि को (जिसका उत्तर काल में नाश न हो) लक्ष्य कर उपाय से पराक्रम का उप-

योग करना चाहिए। क्षमा के समान शत्रुओं को नाश करने वाला और कोई साधन नहीं है। अभी उपेक्षा करने पर भी दुर्योधन सम्पूर्ण राजाओं को कभी वश में न कर सकेगा। यादव लोगों का, जो हम लोगों के स्वाभाविक स्नेह में बँधे हुए हैं, हम सब के प्रति जैसा व्यवहार रहता है, वैसा दुर्योधन से नहीं। समय पड़ने पर वे और उनके सम्बन्धी हम लोगों से मिल जायँगे। दुर्योधन मद से उद्धत है। वह राजाओं का अपमान किये बिना न रहेगा। अपमानित राजाओं में भेद नीति खूब कारगर होती है। अमात्य आदि में थोड़ा भी भेद राजा का नाश कर डालता है। वृक्षों की डालियों की रगड़ से उत्पन्न आग सम्पूर्ण पर्वत को जला डालती है। अविनीत शत्रु की उन्नति की उपेक्षा करता रहे। छिद्र के उपस्थित होने पर उस पर चढ़ाई कर दे, तो वह सुगमता से जीता जा सकता है। इस समय युद्ध के लिए अनुकूल वातावरण नहीं है। (—किरातार्जुनीय)

श्रीकृष्ण की सम्मति

शिशुपाल के अत्याचारों से क्रुद्ध श्रीकृष्ण अंतरंग सभा में कहते हैं—जिस प्रकार नाटक में नाटकीय वस्तु के प्रवेश के लिए पूर्व रंग होता है, उसी प्रकार मेरा कथन आप लोगों की सम्मति को अवसर देने के लिए होगा। इस समय विचारणीय यह है कि युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होना चाहिए, अथवा शिशुपाल का दमन करना चाहिए। मेरी सम्मति में रोग की भाँति बढ़ते हुए शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि नीतिज्ञों ने शत्रु और रोग को समान कहा है। सत्यवती का पुत्र-(शिशुपाल) मेरे साथ शत्रुता का आचरण कर रहा है, इसका मुझे खेद नहीं

है; खेद यही है कि वह निरपराध जनता को सता रहा है। अतः उसके दमन की चेष्टा करनी चाहिए। रह गया युधिष्ठिर का यज्ञ, वह हम लोगों के बिना भी हो सकता है। युधिष्ठिर के वीर भ्राताओं ने दिग्विजय कर राजाओं से 'कर' वसूल ही कर लिया है।

बलदेव जी का मत

बलदेव जी ने कहा--कृष्ण के वचनों से मुझे विरोध नहीं है। उनके वचन सूत्ररूप हैं। उन पर मैं भाष्य करूँगा। सुनो, छः गुणों (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय छः गुण कहलाते हैं) की तीन शक्तियाँ (प्रभुत्व, मन्त्र और उत्साह ये तीन सिद्धियाँ कहलाती हैं) और तीन सिद्धियों की व्याख्या नीतिशास्त्र को पढ़ कर कुबुद्धि भी कर सकता है। पर व्याख्या करनेवाला राजनीतिज्ञ नहीं कहला सकता। राजनीतिज्ञ वही है, जिसको कार्य-अकार्य का ज्ञान है। जिस प्रकार बौद्ध-शास्त्र में पंच स्कंध (रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और वासना) के अतिरिक्त सम्पूर्ण शरीर में आत्मा कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार अंग-पंचक (कार्य के आरम्भों का उपाय, सहायक, देश-काल-विभाग, अनर्थ-प्रतिकार और कार्य-सिद्धि) के अतिरिक्त मंत्र कोई वस्तु नहीं है।

पर मंत्र को शीघ्र कार्यान्वित करना चाहिए, अन्यथा भेद होने का डर रहता है। जब तक एक भी शत्रु है, तब तक सुख नहीं। अकेला राहु चन्द्रमा को ग्रस लेस लेता है। यदि कहिए कि शिशुपाल फूफू का लड़का होने से हमारा सहज मित्र है, उस पर चढ़ाई न करना चाहिए, तो यह उचित नहीं है; क्योंकि शिशु-

पाल सहज मित्र होने पर भी अपने कार्य से शत्रु हो रहा है। उपकार करने वाले शत्रु से संधि करनी चाहिए न कि अपकार करनेवाले मित्र से। शत्रुता और मित्रता का लक्षण अपकार और उपकार ही है। शिशुपाल हमारा क्रिया-निवृत्त शत्रु है। रुक्मिणी-हरण करके आपने उसको विरोधी बनाया है। जब आप भौमासुर को जीतने गये, तब उसने द्वारका को घेर लिया। उसने हमारे साथ जो अपकार किये हैं, उन्हें कहाँ तक कहें। उसने बभ्रु-यादव की भार्या तक को हर लिया। सहनशील भी एक-आध बार क्षमा कर सकता है, बार बार नहीं। शत्रु के अपमान से अपमानित पुरुष को धिक्कार है। उसने जन्म लेकर माता ही को कष्ट दिया। पैर से दबी हुई धूलि सिर पर चढ़ बैठती है। अपमान होने पर शान्त रहनेवाले से तो जड़-धूलि ही अच्छी है। शत्रु के प्रति कोमलता का फल स्पष्ट है। राहु चन्द्रमा को जल्दी ग्रसता है, सूर्य को नहीं। पौरुष करनेवाले और न करनेवाले का दृष्टान्त लीजिए। चन्द्रमा मृग को गोद में लिये रहता है। इससे उसका नाम मृगलांछन पड़ा। सिंह निर्दयतापूर्वक मृग-यूथ को मारता है, इसलिए उसका नाम मृगाधिप पड़ा। यदि कहिए कि राजनीतिज्ञों ने कहा है कि साम आदि तीन उपायों से काम चलावे युद्ध न करे, तो इस नीति का यह असर नहीं। दमन के प्रयोग से ही जो शत्रु ठीक करने योग्य है उसके साथ साम प्रयोग उल्टा हानि-कारक होता है। जिस आम-ज्वर में पसीना निकालना चाहिए, उसको जल से कौन सींचेगा? नीतिविशारद कहते हैं कि अपने अभ्युदय काल में शत्रु पर चढ़ाई करनी चाहिए। कुछ नीतिकारों का मत है कि शत्रु पर विपत्ति समय चढ़ाई करनी चाहिए। इस समय दोनों अवसर प्राप्त हैं। शिशुपाल के मित्र जरासन्ध को भीम ने मार ही डाला है। अतः उस पर मित्र-विपत्ति पड़ी है।

अपना अभ्युदय काल है ही। युधिष्ठिर अपना यज्ञ करें, इन्द्र स्वर्ग की रक्षा करें और हम शत्रु को मारें। अपना अपना स्वार्थ सभी सिद्ध करते हैं। अतः शीघ्र ही शिशुपाल पर चढ़ाई कर उसका दमन करना चाहिए।

उद्धव का परामर्श

उद्धव ने कहा—विजिगीषु राजा को बुद्धि और उत्साह दोनों की आवश्यकता है; क्योंकि बुद्धि और उत्साह दोनों ही संपत्ति के मूल हैं। उत्साहरूपी वृक्ष प्रज्ञा-मूल पर ही खड़ा होकर विशाल प्रभुशक्ति को फलता है। (बलदेव के भाषण में केवल उत्साह को प्राधान्य दिया गया है अतः इन उक्तियों से उनके पक्ष का खण्डन होता है।) जिस प्रकार रसायन-औषध को बल के अनुसार जो सेवन करता है, उसके अंग दृढ़ होते हैं, उसी प्रकार शक्ति का (प्रभाव, मंत्र और उत्साह का) विचार करके जो राजा षाड्गुण्य (छः गुणों) का उपयोग करता है उसके अंग—राष्ट्र के अंग मन्त्री आदि दृढ़ होते हैं। देश-काल को जानने वाले राजा को न केवल क्षमा से ही कार्य लेना चाहिए और न केवल क्रोध से ही, जैसे रस और भावों को जाननेवाला कवि रचना में न केवल प्रसाद गुण को ही लाता है, और न केवल ओज को ही। अपथ्य को सहन करता हुआ रोग जैसे समय पर कुपित हो जाता है, वैसे ही शत्रु की बुराइयों को सहता हुआ राजा समय पर कोप करता है। (बलदेव की इस बात का कि सहनशील भी बार बार क्षमा नहीं कर सकता, उत्तर हो गया है।) मेरी सम्मति में इस समय चेदिराज (शिशुपाल) से युद्ध करना ठीक नहीं। उसे अकेला न समझना चाहिए। जैसे राजयक्ष्मा रोगसमूह होता है, उसी

प्रकार चेदिराज भी राजाओं का समष्टि-रूप है। बाण उससे संधि कर लेगा। काल-यवन, शाल्व, रुक्मिद्रुम आदि नृपति भी उसका अनुसरण करेंगे। इस समय शिशुपाल के साथ जरा भी झगड़ा उन राजाओं को प्रज्वलित कर देगा, जैसे सूखी लकड़ियों को जरा सी आग जला देती है। शिशुपाल के मित्र और तुम्हारे शत्रु शिशुपाल का साथ देंगे। इस प्रकार समस्त राजमण्डल को क्षुभित कर राजसूय यज्ञ में विघ्न उपस्थित करोगे, जिससे अजातशत्रु युधिष्ठिर के प्रथम शत्रु बनोगे। खेद है कि अजात-शत्रु अपने यज्ञ की धुरा को तुम्हारी सहायता से ही ढोना चाहते हैं। बली पुरुष देर करके भी शत्रुओं पर आक्रमण कर सकता है, पर विमन हुए मित्रों को मनाना बड़ा कठिन है। इसके अतिरिक्त आपने प्रतिज्ञा भी की है कि मैं शिशुपाल के सौ अप-राधों को क्षमा करूँगा। पर इससे मेरा यह मतलब नहीं कि शिशुपाल की सर्वथा उपेक्षा की जाय। प्रथम गुप्तचरों को भेजना चाहिए, जो शत्रुओं की स्थिति को जान आवें। कुछ गुप्तचर ऐसे होशियार भेजे जायँ, जिनको शत्रु न जान सकें और वे शत्रुओं के यहाँ नौकरी करके प्रकृति-वर्ग में भेद डलवा दें। कुछ गुप्तचरों को अपने मित्र वर्ग में भेजना चाहिए, जो जाकर कहें कि राजसूय यज्ञ में तैयारी करके आवें। शिशुपाल से बिना चढ़ाई के ही युद्ध हो जावेगा। कारण, पांडव आपकी विशेष भक्ति दिख-लावेंगे, और वह शिशुपाल जैसे मत्सरियों को असह्य होगा। उस समय शत्रु भी, जो अपने को जानते हैं, मिल जायँगे, जैसे कोयल कौवों को छोड़कर अपने में मिल जाती है। तब तुम्हारे असह्य पराक्रम की अग्नि में शत्रु लोग पतंगे हो जावेंगे। अतः शिशुपाल पर चढ़ाई न कर यज्ञ में ही सम्मिलित होना चाहिए। (—शिशुपाल-वध)

दोनों काव्यों के उपर्युक्त अवतरण पढ़ने से भली भाँति मालूम हो जाता है कि माघ ने किरातार्जुनीय की ही छाया लेकर भीम और उद्धव के सभाषणों की कल्पना की है। भारतीय मूल उपाख्यान में उद्धव आदि से कृष्ण के परामर्श लेने का उल्लेख नहीं है। भीमसेन की अन्तरात्मा बलदेव के रूप में प्रतिबिंबित हुई है। दोनों व्यक्तियों का स्वभाव एक सा ही है। दोनों के संभाषणों में पौरुष मात्र को प्राधान्य देकर युद्ध के लिए सम्मति दी गई है। युधिष्ठिर और उद्धव के कथनों में बहुत कुछ सादृश्य है। युधिष्ठिर ने भेद नीति की सम्मति दी है, और उद्धव भी गुप्तचरों द्वारा शत्रुओं में भेद डलवाने को कहते हैं। अपने अपने कथा-संदर्भ के अनुसार, भाषणों में विभिन्नता होने पर भी, तत्त्व-विनिर्णय एक सा ही है। माघ ने छाया अवश्य ली है। (छाया लेने का कवि को हक है—कविरनुहरतिच्छायाम्); पर हम निःसंकोच कह सकते हैं कि भीम की अपेक्षा बलदेव जी का भाषण अच्छा है। भीम में कोरा शौर्य है। वह शत्रु के बलाबल का विचार नहीं करते। वह मर मिटनेवाले आदमी हैं। राजनीति में ऐसे शौर्य का विशेष मूल्य नहीं है। इससे प्रजा और देश का अधिक लाभ नहीं हुआ है। बलदेव जी के कथन में भी पौरुष का प्राधान्य है; पर वह किसी अंश तक नीति का पहलू लिये हुए हैं। यह दूसरी बात है कि उनकी राजनीति गहरी नहीं है। उनका मत युक्तियुक्त न होने पर भी सहसा युक्तिसंगत सा प्रतीत हो पाठकों के हृदय को खींच लेता है। युधिष्ठिर के कथन से उद्धव का संभाषण गम्भीर और कुछ अधिक नीतिपूर्ण है। दोनों कवियों ने राजनीति की अच्छी व्याख्या की है, पर माघ का पलड़ा कुछ झुका हुआ है।

श्रीकृष्ण द्वारा बलदेव के संभाषण के प्रस्ताव-स्वरूप कृष्ण

का जो मत माघ ने प्रकट करवाया है, वह औचित्य-पूर्ण नहीं है। शिशुपाल-वध के नायक श्रीकृष्ण हैं। उनका मत अदूरदर्शिता-पूर्ण न होना चाहिए। माना कि भ्रान्ति मानव-स्वभाव-सुलभ है, और सत्परामर्श द्वारा उसका दूर करना गुण है--अवगुण नहीं; पर कृष्ण-चरित बहुत ऊँचा है। कवि ने स्वयं उनको ईश्वरावतार माना है। पांडवों के प्राण-स्वरूप श्रीकृष्ण के मुख से यह नहीं अच्छा मालूम होता कि "विनाप्यस्मदलं भूष्णुरिज्यायै तपसः सुतः" इससे-प्रकृति विन्यास दोष आ गया है। यदि माघ श्रीकृष्ण द्वारा अंतरंग सभा में इतना ही प्रश्न उठवाते कि यज्ञ में सम्मिलित होना चाहिए अथवा शिशुपाल का दमन करना चाहिए, तो अधिक अच्छा होता।

गज-वर्णन

गंधर्वों की सेना इन्द्रकील पर्वत पर पड़ी हुई है। प्रस्थान-श्रम के कारण आई हुई निद्रा को त्याग कर गजपति ने सोने के उस स्थान को छोड़ दिया, जहाँ मद से कीचड़ हो रहा था। वहाँ क्षण भर भौंरों की पंक्ति ऐसी मालूम हुई, मानो जल्दी में उठने के कारण जंजीर टूट गई हो।

प्रस्थानश्रमजनितां विहाय निद्रा-
मामुक्ते गजपतिना सदानपंके।
शय्यान्ते कुलमलिनां क्षणं विलीनं
संरम्भच्युतमिव शृंखलं चकाशे ॥३१॥

गङ्गा के दूसरे किनारे की तरफ से जङ्गली हाथी के मद की बू आ रही थी। सेना का हाथी उधर जाने के लिए उत्सुक था; किन्तु मार्ग में गङ्गा का प्रवाह रोड़ा बन रहा था। पीलवान तीक्ष्ण अंकुश मार रहा था, पर वह गुस्से से सिर हिलाता हुआ कुछ परवा नहीं करता था।

आयस्तः सुरसरिदोघरुद्धवर्त्मा
सम्प्राप्तुं वनगजदानगन्धिरोधः ।
मूर्धानं निहितशिताङ्कुशं विधुन्वन्
यन्तारं न विगणयाञ्चकार नागः ॥३३॥

सेना के किसी हाथी ने ज्योंही जङ्गली हाथियों के मद से मिले हुए जल को सूँघा, त्यों ही वह आँखें घुमा कर क्रोध से दूसरे किनारे की ओर ताकने लगा। यद्यपि वह अत्यन्त प्यासा था और जल शीतल था, तथापि उसने पिया नहीं।

आघ्राय क्षणमति तृष्यताऽपि रोषा-
दुत्तीरं निहितविवृत्तलोचनेन ।
संपृक्तं वनकरिणां मदाम्बुसेकं
नाचेमे हिममपि वारि वारणेन ॥३४॥

गंगा में जलक्रीड़ा करते हुए गजपति अपने मद से जल को सुगन्धित कर निकल रहे थे। उनके गंड-स्थलों में कमल की गन्ध आ रही थी। इस कारण मद-रेखाएँ कमल-किंजल्क से ढँक गई थीं।

प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि निम्नगायाः
क्रीडन्तो गजपतयः पयांसि कृत्वा ।
किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखै-
रुत्तेरुः सरसिजगन्धिभिः कपोलैः ॥३५॥

—किरातार्जुन

रैवतक पर्वत पर कृष्ण की सेना डेरा डाले पड़ी है। सेना का हाथी दूसरे हाथी के मद से सुगन्धित जल को न तो पीना ही चाहता है और न छोड़ना ही। पीलवान अंकुश मारता है, पर वह हटता नहीं। इस तरह नदी के किनारे को क्रोध से रोके हुए है। आदमियों की भीड़ खाली बर्तन लिये हुए देर तक खड़ी रही।

नादातुमन्यकरिमुक्तमदाम्बुतिक्तं
धृताङ्कुशेन न विहातुमपीच्छाताम्भः ।
रुद्धे गजेन सरितः सरुषावतारे
रिक्तोदपात्रकरमास्त चिरं जनौघः ॥३३॥

अन्य गज के मद की गन्ध से मिले हुए पवन ने ज्योंही सेना के गज का स्पर्श किया, त्योंही उसको क्रोध आ गया—पानी के कुल्ले को फेंककर मूसल जैसे बड़े बड़े दाँतों से प्रहार करना चाहा; पर विशाल दाँतों का मध्यभाग प्रहार में व्यवधायक हो गया; स्वयं समुद्र के किनारे पर धड़ाम से गिर पड़ा।

गण्डूषमुज्झितवता पयसः सरोषं
नागेन लब्धपरवारणमारुतेन ।
अम्भोधिरोधसि पृथुप्रतिमानभाग-
रुद्धोरुदन्तमुसलप्रसरं निपेते ॥३६॥

जल के भीतर सेना का गज ज्यों ही घुसना चाहता था, वैसे ही भौंरों की पंक्ति गण्डस्थलों को छोड़ कर आकाश में मँडराने लगी। उस समय वह ऐसी लगती थी, मानों नीला वर्ण गज से (गुणों के द्रव्याश्रय होने पर भी) पृथक् हो गया।

अन्तर्जलौघमवगाढवतः कपोलौ
हित्वा क्षणं विततपङ्क्तिरन्तरिक्षे ।
द्रव्याश्रयेष्वपि गुणेषु रराज नीलो
वर्णः पृथग्गत इवालिगणो गजस्य ॥३८॥

हाथी के शरीर से गेरू का रंग जल में मिल रहा था, और कमलों की अंतःपराग हाथी के शरीर में लग रही थी। इस प्रकार मानो नदी और महागज ने सम्भोग का अनुभव कर आपस में कपड़े बदल लिये।

संमर्पिभिः पयसि गैरिकरेणुरागै-
रम्भोजगर्भरजसाङ्गनिषङ्गिणा च ।
क्रीडोपभोगमनुभूय सरिन्महेभा-
वन्योन्यवस्त्रपरिवर्तमिव व्यधत्ताम् ॥३९॥

(— शिशुपाल-वध)

दोनों कवियों के गज-वर्णन को पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारवि का गज-वर्णन माघ की दृष्टि में था। माघ ने भारवि के भावों को अपनाया तो है, पर अपहरण से बचने का प्रयास किया है। माघ के तेंतीसवें छन्द में किरात के चौंतीसवें छन्द का भाव है। भारवि का गज प्यासा होने पर भी मद-मिश्रित जल को सूँघ कर प्यास भूल जाता है और वह अपने प्रतिद्वन्द्वी गज को घूरने लगता है। माघ का गज क्रोध से मद-सुगन्धित जल को न तो पीता है और न प्यास के कारण जल छोड़ता है। माघ ने गज में प्यास और क्रोध को यद्यपि समान रूप से वर्णन किया है, तथापि गज में प्यास अधिक प्रकट होती है; क्योंकि अंकुश मारने पर भी उसकी चेष्टा जलावतार के अवरोध में ही प्रतीत होती है। किन्तु भारवि के गज को जल सूँघते ही प्यास भूल गई और वह अपने प्रतिद्वन्द्वी गज के ढूँढ़ने में ही सप्रयत्न है। क्रोध में भूख-प्यास का भूल जाना स्वाभाविक है। भारवि का वर्णन माघ के वर्णन से अधिक स्वाभाविक और हृदय-ग्राही है।

किरात के पैंतीसवें श्लोक में भारवि ने गंगा और गजपति के मध्य में मद और कमल-गंध के विनिमय का वर्णन किया है। माघ ने ३९वें श्लोक में नदी और गजपति में नायिका और नायक का आरोप कर वस्त्र-विनिमय की उत्प्रेक्षा की है। माघ ने मद के स्थान में गैरिक रेणु कर दिया है। इस प्रकार माघ ने भारवि के

भावों को लेते हुए भी परिवर्तन द्वारा अर्थ में विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

किरात के ३२वें पद्य और माघ के ३६वें श्लोक में एक ही विषय का वर्णन किया गया है; पर वर्णन करने का ढंग भिन्न है। अपने अपने रंग में दोनों अच्छे हैं। माघ के गज में क्रोध खूब ही प्रस्फुटित हुआ है। दंत-प्रहार में वह किनारे पर फिसल पड़ा है। भारवि का गज प्रतिद्वन्द्वी गज से युद्ध करने के लिए दूसरे किनारे पर जाना चाहता है। फीलवान के अंकुश पड़ रहे हैं, पर वह ध्यान नहीं देता है। माघ के गज में क्रोधाधिक्य है, सो वह निरंकुश भी है। जिन हाथियों के मद चूता है उनके पास भौंरों की पंक्ति रहती है। भारवि ने उसे ३१वें श्लोक में टूटी हुई शृङ्खला बनाया है। घबड़ाकर उठने से टूटी हुई शृङ्खला की उत्प्रेक्षा हृदय-ग्राहिणी है। किन्तु माघ ने भ्रमरपंक्ति का वर्णन बड़ी सुन्दर रीति से किया है। उन्होंने एक दार्शनिक-तत्त्व को मिथ्या बनाने की कल्पना की है। गुण सदा द्रव्य में समवाय संबंध से रहते हैं, द्रव्य से उनका पृथक् होना असम्भव है। पर माघ कहते हैं कि भ्रमरपंक्ति नहीं मँड़रा रही, प्रत्युत नीलरूप गुण गज रूप द्रव्य से पृथक् हो, शोभित हो रहा है।

———

हिमालय-वर्णन

बरस जाने से खाली, न जिनमें बिजली ही कौंदती है और न गरज ही है, ऐसे सफेद बादल हिमालय के विशाल नितंब पर लटके हुए हैं। उनसे ऐसा मालूम होता है कि हिमालय के पर उगे हों।

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभि
विरहितैरचिरद्युतितेजसा,
उदितपक्षमिवारतनिःस्वनैः
पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः ॥

(सर्ग ५ श्लोक ६)

हिमालय पर्वत पर हंस के समान शुभ्र स्फटिक भित्ति और रजत भित्ति की कान्ति बार बार सूर्य की किरणों से चमक रही है तथा इंद्रनीलों की समीपता से दूनी खिल रही है (काले रंग के समीप सफेद रंग अधिक खिलता है और दोपहर में भी ज्योत्स्ना का भ्रम उत्पन्न कर रही है।

नीतोच्छ्रायं मुहुरशिशिररश्मेरुस्रै-
रानीलाभैर्विरचितपरभागा रत्नैः ।
ज्योत्स्नाशंकामिह वितरति हंसश्येनी
मध्येऽप्यह्नः स्फटिकरजतभित्तिच्छाया ॥

ठठाकर हँसने से जिनका अग्रभाग तमोराशि से दूर हो रहा है और पिछला भाग अन्धकार से व्याप्त है, ऐसे गज-चर्म ओढ़े हुए शिव के समान हिमालय हो रहा है। कारण, हिमालय

का एक भाग सूर्य से प्रकाशित हो रहा है और दूसरा भाग रात्रि के अन्धकार से व्याप्त है।

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा॥

लिपटी हुई लताएँ यकायक हवा के झोंके से अलग हो जाती हैं। नीचे की) स्वर्णमयी तटभूमि की कान्ति सूर्य-किरणों से दूनी हो बिजली की तरह चमक उठती है।

सक्तिं जवादपनयत्यनिले लतानां,
वैरोचनैर्द्विगुणिताः सहसा मयूखैः।
रोधो भुवां मुहुरमुत्र हिरण्मयीनां
भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति॥

(—किरातार्जुनीय)

रैवतक-वर्णन

रैवतक पर्वत फूलों की लम्बी चादर ओढ़कर गृह-कपोत की ग्रीवा के सदृश नवीन मेघरूपी अगुरु-धूम से (जो चादर के अंदर घूम रहा है) मानों अपने अंगों का सुवासित कर रहा है।

आच्छाद्य पुष्पपटमेष महान्तमन्त-
रावर्तिभिर्गृहकपोतशिरोधराभैः।
स्वाङ्गानि धूमरुचिमागुरवीं दधानै-
र्धूपायतीव पटलैर्नवनीरदानाम्॥

(च० सर्ग श्लोक ५२)

चन्द्रमा की किरणें विविध रत्न-किरणों से मिलकर सहस्र-संख्या का प्राप्त हो रही हैं। अतः रात्रि में भी कमलिनी चन्द्रमा को सहस्र किरण-सूर्य समझ कर कमलों को खिला रही है।

भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विहेन्दो-
रुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम् ।
दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति
व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्यः ॥४६॥

रैवतक-पर्वत—स्फटिकमयी कटक-भूमि (नितंब-भूमि) से जिसका मध्य भाग नवीन वनराजि से श्यामल है—सर्प की काछनी बाँधे हुए भस्मलिप्त शुभ्र-शंभु की शोभा को धारण कर रहा है।

नवनगवनलेखाश्याममध्याभिराभिः
स्फटिककटकभूमिर्नाटयत्येष शैलः ।
अहिपरिकरभाजो भास्मनैरङ्गरागै-
रधिगतधवलिम्नः शूलपाणेरभिख्याम् ॥

मरकतमय मेदिनी पर वृक्षों के पत्तों के अंतराल (बीच) से सूर्य की किरणें पड़ रही हैं जिनसे सूक्ष्म धूलि के कण (जर्रे) चमक उठे हैं। उस समय वे सूर्य की किरणें झुकी हुई मोर की गर्दन की शोभा को धारण कर रही हैं।

मरकतमयमेदिनीषु भानोस्तरुविटपान्तरपातिनो मयूखाः ।
अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीमिह दधति स्फुरिताणुरेणुजालाः ॥

भारवि शरत्कालीन शुभ्र मेघों के संयोग से हिमालय के कटे हुए पर पुनः उगा रहे हैं (पौराणिक आख्यान है कि इन्द्र ने पहाड़ों के पर काट डाले हैं)। "पर्वत के नितंब प्रदेश पर लटकते हुए मेघ क्या हैं, मानों हिमालय के पर उगे हों।" कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है।

पर्वतीय तरुओं पर फूल खिले हुए हैं, नीचे से ऊपर तक फूल ही फूल दिखाई पड़ते हैं। पर्वत फूलों से ढका हुआ लगता

है। चोटी पर धुएँ-से नये बादल हैं। ऐसी स्थिति में "कुसुममय वस्त्र को ढक कर अगर के धुएँ से अंगों को सुवासित करने" की कल्पना कितनी सुन्दर है। अपने अपने ढङ्ग से दोनों कवियों का वर्णन सुन्दर है। पर माघ के वर्णन से सूचित होता है कि पद्य-रचना-काल में उनको अनुभूत पर्वतीय दृश्य याद आ गया है। उसे ही कल्पना से रंजित कर ऐसा सजीव चित्र खींच दिया है जो हृदय पर विशेष प्रभाव डाल रहा है। भारवि ने ३१वें पद्य में ज्योत्स्ना की आशंका मध्याह्न काल में की है। माघ ने रात्रि में कमलों का विकास किया है। चंद्र-किरणों में विविध रत्न-किरणों के मिल जाने से चन्द्र भले ही सहस्र-किरण हो जाय, पर उससे कमलों का विकास औचित्यपूर्ण नहीं है। वास्तविक स्थिति के चित्रण में कवि यद्यपि परतन्त्र नहीं होता है, वह कल्पना द्वारा चमत्कार लाने में स्वतन्त्र है, तथापि कवि को नितान्त प्रकृति-विरुद्ध कल्पना न करनी चाहिए। सूर्य-किरणों के पड़ने के कारण रजत-भित्ति का प्रतिबिंब दिन में भी चाँदनी की भ्रान्ति करा सकता है, पर जड़ कमलिनी भ्रम में पड़कर रात में कमलों को नहीं खिला सकती है। माघ के हिस्से में 'अतिशयोक्ति' ही पड़ी, कविता का प्राण प्रभाव-स्वरूप जाता रहा।

भारवि ने हिमालय के एक प्रदेश में नैश-अंधकार का और दूसरे प्रान्त में दिवस के प्रकाश का उल्लेख किया है। माघ ने रैवतक के शुभ्र स्फटिक-कटक पर नील वनराजि का वर्णन किया है। दोनों कवियों की उपमेय-सामग्री यद्यपि जुदी है, तथापि वर्णनीय विषय एक ही है—एक ही स्थल पर धवलिमा और नीलिमा के संयोग का वर्णन किया गया है। दोनों ने शिव को उपमान बनाया है। हमारी तुच्छ सम्मति में माघ का वर्णन

अधिक आकर्षक है। भारवि के ४६वें पद्य में सूर्यकिरणों से उद्भासित स्वर्णमयी भूमि की विद्युत् से उपमा हृदय-ग्राहिणी है। पर इससे भी विशेष मरकत-मेदिनी पर प्रतिफलित किरण-जाल का अवनत मयूरकंठ से सादृश्य वैचित्र्यजनक है।

विस्तार-भय से अधिक पद्य हिमालय-वर्णन से हमने नहीं दिये हैं और न रैवतक-वर्णन से ही। पर दोनों के समग्र अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं, कि दृश्य-चित्रण की क्षमता भारवि की है और पद्यों में वर्णित सच्चे प्राकृतिक चित्र उनके गंभीर प्रकृति-पर्यवेक्षण के परिचायक हैं; तथापि अन्य वर्णनों की अपेक्षा हिमालय का वर्णन बहुत सुन्दर नहीं है। कहीं कहीं यमकालङ्कारों की सजावट में कवि की मनोवृत्ति पदान्वेषण में लग गई है, जिससे वर्णन-क्रम भङ्ग सा हो गया है। इसके अतिरिक्त कृत्रिमता भी है। भारवि के वर्णन की अपेक्षा माघ का वर्णन अधिक विस्तृत है। उपर्युक्त दोष माघ के वर्णन में भी हैं, पर औसत में माघ का पर्वत-वर्णन भारवि से अच्छा बन पड़ा है।

रैवतक-वर्णन में माघ का निम्नलिखित पद्य बड़ा ही सुन्दर है। तत्कालिक सहृदय-समाज में यह पद्य बहुत ही समादृत हुआ था। टीकाकार वल्लभदेव ने लिखा है कि इसी छन्द के कारण माघ का नाम घण्टा-माघ पड़ा है।

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बि घण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥२०॥

रैवतक पर्वत पर सूर्य का उदय और चन्द्रमा का अस्त हो रहा है। दोनों की किरणें रस्सी की तरह फैली हुई हैं। उस समय पर्वत उस हाथी की शोभा को धारण कर रहा है, जिसके दो घण्टे झूलते हों।

महाकवि कालिदास का हिमालय-वर्णन संक्षिप्त होने पर भी बड़ा मनोहर है। हमें उसके पढ़ने में जितना आनन्द मिला है, वह इन पर्वतद्वय (भारविकृत हिमालय और माघ-वर्णित रैवतक) के पढ़ने में नहीं। भारवि के हिमालय पर देवदारु-साल-प्रियाल जैसे पर्वतीय वृक्षों के दर्शन नहीं होते हैं, दर्शन होते हैं तो कदंब[1] और तमाल के। भागीरथी[2] के तुषारों से मिश्रित देवदारु को कँपानेवाली तथा किरातों की कमर में बँधे हुए मयूर-पिच्छों को हिलानेवाली (कालिदास के हिमालय की) पवन जितना रसिकों को आप्यायित करती है उतना भारवि के हिमालय की रतिश्रमनुद[3] सरोज-वात नहीं। निम्नलिखित दो छन्द माघ और कलिदास के भी पाठक देखें। दोनों कवियों ने मेघ-पंक्तियों को जवनिका बनाया है।

समीरशिशिरः शिरःसु वसता सता जवनिकानिकायसुखीनाम्।
विभर्ति जनयन्नयं मुदमपामपायधवलावलाहकततीः ॥

[वायु से शीतल रैवतक पर जलशून्य श्वेत मेघपंक्तियाँ जवनिका (कनातें) बन रही हैं। रैवतक उन्हीं से अपने ऊपर बरसनेवाले सदा सुखी सज्जनों को आनंदित कर रहा है।]

(माघ)

१—पृथुकदम्बकदम्बकराजितं ग्रथितमालतमालवनाकुलम्।

(किरातार्जुनीय)

२—भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्ट मृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हिः ॥

(कुमारसम्भव)

३—अस्मिन् रतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः।
"स्मर्तुर्दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः" ॥

(किरातार्जुनीय)

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किम्पुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥

(कुमारसम्भव)

(वस्त्र खींच लेने के कारण लज्जित किन्नरियों को ढकने के लिए गुफाओं के द्वार पर लटके हुए बादल जवनिका हो रहे हैं ।)

कालिदास की तिरस्करिणी से लोग चौंक उठते हैं और माघ की जवनिका से भ्रम में पड़ जाते हैं । वे सज्जन पुरुष जवनिका की आड़ में भजन करेंगे या विहार ?

मधु-पान

प्रिय के मिलने पर मानिनियों के रोष की तो पराजय ही हो गई । रहा-सहा कलह वारुणी के सेवन से शान्त हो गया । इस प्रकार प्रिय जनों के साथ संधि हो जाने पर काम ने धनुष पर बाण का सन्धान ही नहीं किया ।

कान्तसंगमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे ।
मानिनीजन उपाहितसन्धौ संदधे धनुषि नेषुमनङ्गः ॥

(सर्ग ९ श्लोक ४८)

जिसमें विद्रुम के समान कपोल अरुण हैं और राग से नयन सुन्दर हैं, ऐसे मुख में महिलाओं की सर्वाङ्गीण मदश्री दर्पण के समान झलकती थी ।

रागकान्तनयनेषु नितान्तविद्रुमारुणकपोलतलेषु ।
सर्वगापि ददृशे वनितानां दर्पणेष्विव मुखेषु मदश्रीः ॥

(सर्ग ९ श्लोक ६३)

अत्यन्त मद्य-पान से लाक्षा रस के छूट जाने पर भी प्रेयसी का अधर-पल्लव-राग (ओठों की ललाई) प्रिय के दंतक्षत से शोभित हो और गहरा हो रहा था ।

क्षीणयावकरसोऽप्यतिपानैः कान्तदन्तपदसम्भृतशोभः ।
आययावतितरामिव वध्वाः सान्द्रतामधरपल्लवरागः ॥

(सर्ग ६ श्लोक ६२)

मद से हमारी बुद्धि कहीं मूढ़ न हो जाय और उस समय हमें छोड़ कहीं विहारार्थ न चले जायँ, ऐसी आशंका प्रियजनों के विषय में करती हुई रमणियों ने अधिक मद्य नहीं पिया। भय का जहाँ स्थान नहीं है वहाँ भी प्रेम भय को देखता है।

मा गमन्मदविमूढधियो नः प्रोज्झ्य रन्तुमिति शङ्कितनाथाः ।
योषितो न मदिरां भृशमेपुः प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ॥

(सर्ग ६ श्लोक ७०)

मदिरा नेत्रों में ललाई उत्पन्न कर रही है, ओठों से ललाई छुड़ा रही है, मुख को सुगन्धित कर रही है, और स्वयं भी मुख के सौरभ को प्राप्त कर रही है। मालूम नहीं, मदिरा पराये गुणों और अपने गुणों का व्यत्यय (भूल से वस्तुओं के बदलने को व्यत्यय कहते हैं) करती है या विनिमय (जान-बूझ कर वस्तुओं का बदलना विनिमय है)?

लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेषितगन्धा ।
वारुणी परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमयं तु वितेने ॥

(किरातार्जुनीय सर्ग ६, ६०)

महिलाएँ जब पीकर मतवाली हुईं, तब वह क्षण में भी बिगड़ जाती थीं और क्षण में ही बन जाती थीं। कामदेव मानों उनके निमित्त बाण-सहित धनुष लेता भी था और छोड़ भी देता था।

क्षीवतामुपगतास्वनुवेलं तासु रोषपरितोषवतीषु ।
अग्रहीन्नु सशरं धनुरुज्झामास नूज्झितयातनिषङ्गमनङ्गः ॥१०।३४

सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरियों के कपोल-प्रान्त पर समान वर्ण होने के कारण—गौर होने के कारण—प्रतिबिंब चन्द्र पहले (सुरा पीने से पहले) प्रकाशित नहीं होता था। पर मद्य-पान से जब कपोल-प्रदेश पाटलित (लाल) हुआ, तब वह (प्रतिबिंब चन्द्र) लोध्र पराग का तिलक सा लगता था।

गण्डभित्तिषु पुरा सदृशीषु व्यञ्जिनाञ्चितदृशां प्रतिमेन्दुः।
पानपाटलितकान्तिषु पश्चाल्लोध्रचूर्णतिलकाकृतिरासीत् ॥१०।२६

गुप्त चुंबन में चतुर सुन्दर भौंहोंवाली रमणियाँ अपने ओठों को—जिनसे मद्य-पान के कारण लाक्षारस छूट गया है—प्रिय जनों के अधर राग से (तांबूल राग से) सखियों के समक्ष रँग रहा हैं।

पानधौतनवयावकरागं सुभ्रुवो निभृतचुम्बनदक्षाः।
प्रेयसामधररागरसेन स्वं किलाधरमुपालि ररञ्जुः ॥१०।२३॥

हृदयेश्वर का हृदय किसी अन्य स्त्री में लग्न है, इस प्रकार आशंका करनेवाली कोई नारी अधिक पीने पर भी मतवाली नहीं हुई; क्योंकि मन की शान्ति ही मद का कारण होती है।

अन्यान्यवनितागतचित्तं चित्तनाथमभिशङ्कितवत्या।
पीतभूरिसुरयापि न मेदे निर्वृतिर्हि मनसो मदहेतुः॥

महिलाओं के मुखरूपी पात्र (प्याले) की गंध और मदिरा की गन्ध दोनों (गन्धें) एक दूसरे को पाकर भौंरों को आनन्दित कर रही थीं। दोनों परस्पर मिलने से अपूर्वता (आधिक्य) को प्राप्त हुईं या अतिशय (उत्कर्ष) को?

लब्धसौरभगुणो मदिराणामङ्गनास्यचषकस्य च गन्धः।
मोदिताऽलिरितरेतरयोगादन्यतामभजतातिशयं न ॥१०।२४

(शिशुपाल-वध)

माघ के चौंतीसवें छंद में बहुत कुछ परिवर्तन होने पर भी किरात के बावनवें छंद की झलक है। भारवि ने वर्णन किया है कि वारुणी के प्रभाव से दम्पतियों में संधि हो गई। अतः कामदेव का धनुष व्यर्थ हो गया। माघ कवि कहते हैं कि वारुणी के मद में महिलाएँ क्षण में रुष्ट होती थीं और क्षण में प्रसन्न होती थीं। कामदेव को मानों धनुष लेना भी पड़ता था, छोड़ना भी पड़ता था। इस पद्य में माघ अधिक सफल हुए हैं। मद की अवस्था में क्षणिक रोष और तोष का होना स्वाभाविक है। रुष्ट होने पर धनुष लेने और तुष्ट होने पर त्यागने की कल्पना सुन्दर है। यथा-संख्यालंकार से कुछ अधिक चमत्कार बढ़ गया है।

भारवि के ६३वें छन्द से मिलता-जुलता माघ का ३१वाँ छन्द भी है। उभयत्र पानजन्य मुख-पाटलिमा का वर्णन है। एकत्र पान-पाटलित गंड-स्थल में चन्द्र प्रतिबिंबित हो लोध-तिलक बन गया है; अन्यत्र मुकुर-सदृश मुख में मद-श्री प्रतिफलित हुई है। मद से नयन और कपोल अरुण हो रहे हैं, अतः सर्वाङ्ग-व्यापिनी मद-श्री मुकुर के समान मुँह में ही दिखलाई पड़ती है। भारवि की यह कल्पना कितनी स्वाभाविक, सुन्दर, और प्रभावजनक है। पान-पाटलित कपोल में प्रतिबिंबित चन्द्र लोध-तिलक के समान है। माघ की इस उक्ति में कल्पना की उड़ान अच्छी है; भाव-सौकुमार्य भी है पर निरी कल्पना होने से प्रभाव नहीं है। भारवि के ६२ वें छन्द का और माघ के २६ वें पद्य का भी एक ही विषय है। एकत्र अधरराग वारुणी रस से न्यून होने पर दन्त-क्षत से पूर्ण किया गया है, अन्यत्र प्रियजनों के तांबूल राग से। पर माघ की नायिकाएँ अधर-रञ्जन के अभिनय में चुंबन का भी लाभ उठा रही हैं लेकिन सखियों के समक्ष निर्लज्जतापूर्ण ऐसा व्यापार पाठकों के हृदय में ग्लानि उत्पन्न कर रहा है।

भारवि की नायिका धीरा है। आशंका के कारण उसने ज्यादा पी ही नहीं। माघ की नायिका मुग्धा है। भोलेपन के कारण उसने ज्यादा पी सही ली है, किन्तु उसके हृदय में चोर घुसा हुआ है। अशान्त हृदय पर मद का प्रभाव नहीं पड़ा है। पर हमारी मन्द-मति में माघ का वर्णन अस्वाभाविक हो गया है। मद का प्रभाव यहाँ तक सुनने में आया है कि बड़े बड़े अप-राधियों ने उन्मत्त दशा में अपने अपराधों को बतला दिया है। चिंतित हृदय पर मद्य का प्रभाव न पड़े, यह अनुभव-विरुद्ध है। भारवि से अच्छा वर्णन माघ नहीं कर सके।

मधु-पान से लोचनों में ललाई उत्पन्न हो रही है, ओठों से लाक्षा-रस छूट रहा है तथा मद्य और मुख में परस्पर गन्ध-संक्रांति हो रही है। ऐसी स्थिति में भारवि की उत्प्रेक्षा—मदिरा पराये गुणों का व्यत्यय करती है या विनिमय?--कितनी मर्मस्पर्शिनी है। माघ ने २४ वें छन्द में इसी छन्द के एक अंश का (मुख और मद्य के गन्ध-संक्रमण को) संदेहालंकार द्वारा इस प्रकार वर्णन किया है कि गन्ध परस्पर मिलने से* अपूर्वता को प्राप्त हुई या उत्कर्ष को? परवर्ती होने पर भी माघ भारवि के चमत्कार को नहीं ला सके। दोनों पद्यों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

------

* कवि का आशय है कि यक्षकर्दम की गन्ध की तरह अपूर्व हुई या घृत-मिश्रित केसर की तरह उत्कृष्ट। अगर, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्यों से यक्षकर्दम बनाया जाता है। उसमें अनेक द्रव्यों के संयोग से अपूर्व गन्ध उत्पन्न हो जाती है। घी के संयोग से केशर में उत्कट गन्ध हो जाती है।

५—दण्डी और तत्कालीन भारत

ईसा की तीन शताब्दियों का समय (५०० से ८०० तक) संस्कृत साहित्य का महान युग है। इस युग में हिन्दुओं की कल्पना शक्ति जाग्रत हुई थी। ज्योतिष, काव्य, नाटक आदि के विविध ग्रन्थ इसी काल में निर्मित हुए हैं। इसी काल में महाकवि दण्डी भी हुए हैं। दण्डी का समय पुरातत्त्वविद् ५७० से ६२० तक निर्धारित करते हैं।

दण्डी के समय का भारत हम लोगों के लिए स्वप्न सा हो गया है। अब वह मगध-देश शेखरी-भूत पुष्पपुरी नहीं है, जिसकी पुण्य वीथिका में विक्रय के हेतु रक्खे हुए मणिगणादि वस्तुजात रत्नाकर के माहात्म्य को विस्तारित करते थे। अंग देश में विला-सिजनाधिष्ठित गंगा-तटवर्तिनी चम्पा नगरी कहाँ है, जिसमें परिधानोत्तरीयवेष्टित कुसुम-ग्रथित कवरीविमंडित महिलाएँ अंगों पर अंगराग लगाती थीं। अब वह सह्य देश कहाँ है, जहाँ कन्दुकोत्सव होता था, जिसमें क्रीड़ा-जनित घर्म-सलिल कुमा-रियों की कपोल-पत्ररचना को बिगाड़ता था? वह हिन्दू-साम्राज्य कहाँ है, जिसमें नृपतिगण दिवस के प्रथम भाग में आय-व्यय का लेखा समझते थे, द्वितीय में प्रजाओं के विवाद का निर्णय करते थे, तृतीय में स्नान-भोजन करते थे, चतुर्थ में भेंट लेते थे, पंचम में मंत्रणा करते थे, छठे में स्वेच्छा-विहार करते थे, सातवें में चतुरंग सेना का निरीक्षण करते थे और आठवें में सेनापति के साथ पराक्रम सम्बन्धी कार्य करते थे। यह हुई दिन-चर्या। अब रात्रि-चर्या सुनिए। संध्योपासन के अनंतर प्रथम भाग में गूढ-पुरुषों--गुप्तचरों—को देखते थे, द्वितीय में भोजनोपरान्त स्वा

ध्याय करते थे, तृतीय में संगीत द्वारा विनोद करते थे, चतुर्थ-पंचम में शयन करते थे, षष्ठ में शास्त्र-चिंता और कार्यचिंता में तत्पर होते थे, सातवें में परामर्श लेते और दूतों को भेजते तथा आठवें में पुरोहित के बतलाये हुए धार्मिक कृत्यों को करते थे। ये सभी दृश्य भारतवर्ष के रङ्गमंच से सदा के लिए उठ गये। हाय! कैसा परिवर्तन हो गया। दण्डी कवि संसार की परिवर्तन-शीलता को अनुभव करते थे। वह जानते थे कि ये दृश्य काल के स्रोत में विलीन होंगे। इसी से मानों उन्होंने उत्तरवर्ती संतानों के लिए—हम लोगों के लिए—लेखनी रूपी रंजन-तूलिका से ताल-पत्र के फलकों पर उन दृश्यों के चित्र अंकित कर लिये थे। दण्डी के उसी अलबम--दशकुमार-चरित से प्राचीन भारत के उन चित्रों का हम परिचय कराना चाहते हैं।

शिक्षा

उस समय शिक्षा की अच्छी उन्नति थी। स्त्री-पुरुष दोनों में विद्या का प्रचार था। अवंति-सुन्दरी के पत्र-लेखन का वर्णन है। उस समय निम्नलिखित पाठ्य विषय थे--

१—वेद, २—वेदांग, ३—काव्य, ४—नाटक, ५—आख्यानक, ६—आख्यायिका, ७—इतिहास, ८—चित्रकथा, ९—पुराण, १०—धर्म-शास्त्र, ११—ज्योतिष-शास्त्र, १२--तर्क-शास्त्र, १३—मीमांसा-शास्त्र, १४—संगीत-शास्त्र, १५—अनेक लिपियों का ज्ञान, १६—अनेक भाषाओं का ज्ञान १७--आयुर्वेद, १८--अर्थ-शास्त्र, १९--काम-शास्त्र, २०--शस्त्र-विद्या और २१--यानारोहणविद्या।

मालूम होता है कि दण्डी के काल में कौटिल्य कृत अर्थ-शास्त्र का अधिक प्रचार रहा होगा। अनेक स्थलों पर दण्डी ने उसके उद्धरण[1] दिये हैं, और प्रशंसा की है। शुक्र, आंगिरस, विशालाक्ष, बाहु, दंतिपुत्र, पराशर और कामंदक इन नीतिकारों का भी उल्लेख है। राजनीति में इन आचार्यों के भी ग्रन्थों का आदर रहा होगा। अवंतिसुन्दरी के पत्र-लेखन से यह न समझना चाहिए कि राजकुमारी जैसी महामहिमान्वित कन्याओं को ही शिक्षा दी जाती थी। दशकुमार के द्वितीय उच्छ्वास में गणिका मरीचि ऋषि के सामने कन्याओं के प्रति अपने उत्तरदायित्व का वर्णन करती है, जिससे प्रकट होता है कि उस समय वेश्याओं तक को कैसी शिक्षा दी जाती थी। यहाँ पर हम काव्यमंजरी के संभाषण के लिखने के लोभ को संवरण नहीं कर सकते—

"एष हि गणिकामातुरधिकारः यत् दुहितुर्जन्मनः प्रभृत्येवाङ्गक्रिया, तेजोबलवर्णमेधासंवर्द्धनेन दोषाग्निधातुसाम्यकृता मितेनाहारेण शरीरपोषणम्, अध्यापनम् अनङ्गविद्यानां साङ्गानां, नृत्यगीतवाद्यनाट्यचित्रास्वाद्यगन्धपुष्पकलासु लिपिज्ञानवचनकौशलादिषु य सम्यग् विनयम् शब्दहेतुसमयविद्यासु वार्तामात्रावबोधनम् अजीवज्ञाने क्रीडाकौशले सजीवनिर्जीवासु च द्यूतकलासु अभ्यन्तरीकरणम्" इत्यादि। गणिका की माता का यह अधिकार

१—सत्यमाह चाणक्यः "चित्रज्ञानानुवर्तिनोऽनर्था अपि प्रियाः स्युः, दक्षिण अपि तद्भाव बहिष्कृता द्वेष्या भवेयुः"।

"अधीष्व तावत् दण्डनीतिम् इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्याय षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता।"

है कि वह जन्मदिन से ही कन्या के अंग-संस्कारों को करे; तेज, बल, वर्ण और मेधा को बढ़ानेवाले तथा दोष, अग्नि और धातु उनके साम्य को करनेवाले परिमित आहार से शरीर को पुष्ट करे; अंग सहित अनंग-विद्या तथा नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य, चित्र, आस्वाद्य (मिष्टान्नादि), गंध, पुष्प आदि कलाओं की भली भाँति शिक्षा दिलावे। शब्दविद्या, तर्कविद्या और सामयिक विद्याओं में सामान्य ज्ञान करा दे। जीविकाज्ञान, क्रीड़ा-कौशल (कंदुक क्रीड़ा आदि) और सजीव (घोड़दौड़ आदि में बाजी लगाना) और निर्जीव द्यूतकला का बोध करा दे।

धर्म

दण्डी के काल में हिन्दू धर्म (पौराणिक धर्म) का पुनः उद्धार हुआ था। जैन धर्म और बौद्ध धर्म की शोचनीय दशा थी। जनता की अश्रद्धा बौद्ध धर्म के प्रति हो रही थी। किसी कारण-विशेष-वश ही लोग हिन्दू धर्म को छोड़ कर धर्मान्तर ग्रहण करते थे। धर्मशिक्षा से जिज्ञासा नहीं। दण्डी ने 'विरूपक' की कथा द्वारा इस बात को अभिव्यक्त किया है। परित्यक्त हिन्दू धर्म की आंतरिक वेदना का करुण भाषा में चित्रण है जिसका अनुवाद हम अविकल उद्धृत किये देते हैं। विरूपक ने कहा—"काममंजरी ने जब मेरा सब धन हर लिया, पास केवल लँगोटी ही रह गई थी, तब वृद्धजनों के धिक्कार और लोक के उपहास के भय से मैं जैन-मन्दिर में गया। वहाँ एक मुनि ने मुझे मुक्ति मार्ग का उपदेश दिया। वेश (चकत्तों) से निकाले हुए लोगों को यह वेश (नंगा रहना) आसान है। इस तरह विरक्त होकर मैंने लँगोटी भी छोड़ दी। शरीर मल से व्याप्त हो गया था। केशों के उखाड़ने में बड़ी व्यथा होती थी। भूख-प्यास की तकलीफ सही नहीं जाती थी।

उठने-बैठने, शयन-भोजन में मेरी वही दशा होती थी जो पकड़े हुए किसी नये हाथी की होती है। बलवती यन्त्रणाओं से उद्वे-जित होकर मैं विचारता था कि मैं द्विजाति वंश समुद्भूत हूँ। यह पाखंड, यथावतार (जैन धर्म) मेरा धर्म न था। मेरे पूर्वज श्रुति-स्मृति-मार्ग पर चलते थे। मैं ऐसा हतभाग्य हूँ, जिसका ऐसा निद्य वेश है, जो आमंद दुःखों का आयतन (गृह) है। हरि, हर, ब्रह्मा आदि देवों की निरन्तर निन्दा सुनने से जन्मान्तर में भी मुझे नरक ही होगा। फलशून्य प्रतारणात्मक यह अधर्म मार्ग है। धर्म मार्ग की भाँति मुझको इस पर चलना चाहिए था। अपने दुर्व्यवहार पर आंतरिक खेद का अनुभव कर इस निर्जन खजूर के जंगल में जी भर रो लेता हूँ।" उस समय की बौद्ध-संन्यासिनियाँ बौद्ध-धर्म के आदर्श से च्युत हो रही थीं। दण्डी ने उनको वेश्याओं की दूती के रूप में अंकित किया है।

विदेश-यात्रा

दण्डी के समय में* पोतों द्वारा वाणिज्य के लिए वैश्य विदेश जाया करते थे। दण्डी ने पुष्पोद्भव की कथा में रत्नोद्भव के प्रवहण (जहाज) डूबने का वर्णन किया है। षष्ठ उच्छ्वास में मित्र-गुप्त चरित में उन्होंने लिखा है—"मित्रगुप्त को प्रातःकाल जहाज दिखाई दिया। जहाज पर यवन (ग्रीक) दिखाई दिये। उन्होंने मित्र-

---

*प्राचीन भारत में जहाजों का होना इतिहास से भी सिद्ध है। चीनी परिव्राजक हुएनसांग सातवीं शताब्दी में भारत आया था। उसने लिखा है कि उड़ीसा के बन्दर से वणिक्गण जहाजों पर चढ़कर अनेक देशों को जाया करते थे। ईसा की चौथी शताब्दी में फाहियान तमलुक बन्दर से एक बृहत् बङ्गाली पोत द्वारा लङ्का गया था।

गुप्त को जहाज पर रख लिया, और जहाज के कप्तान को दिखाया। यह भी कहा कि यह अकेला हजारों अंगूर की लताओं को क्षण भर में सींच डालेगा। इतने में एक मद्गु (युद्ध-साधन पोत) आ गया। यवन लोग डर गये। बाद को लड़ाई होने लगी। यवन पराजित हुए। मित्रगुप्त ने कहा कि मुझे बन्धन से छुड़ा दो, तो मैं युद्ध करूँगा। यवनों ने छोड़ दिया। अकेले मित्रगुप्त ने शृङ्ग (सींग के बने हुए धनुष) से भल्लों (बाण-विशेषों) की वृष्टि कर दूसरे जहाज पर के शत्रुओं को हरा दिया।" इस कथा में पोतयुद्ध भी शृङ्ग से हुआ है। मालूम होता है कि दण्डी के काल में किसी बारूद यन्त्र (तोप आदि) का आविष्कार नहीं हुआ था, पर उस समय यवन (ग्राक) लोग भारत आते रहे होंगे।

पहनावा

भारतीय लोग उस समय पोशाक में सादे थे। दण्डी ने पुरुषों के वस्त्रों में चादर, धोती और जाँघिया का तथा स्त्रियों के वस्त्रों में साड़ी, दुपट्टे और कंचुकी का वर्णन किया है। निम्नलिखित आभूषणों का उल्लेख है—

१—अंगुरीयक, २—कुण्डल, ३—रत्नकर्णिका, ४—कनक-पत्र, ५—पद्मराग रुचक (पद्मराग मणियों का कंठा), ६—रत्न-मेखला, ७—हेम नूपुर, ८—मुक्ताहार, ९—कंकण, १०—ताटंक, ११—कटक और १२—चूड़ामणि।

सम्भव है कि आभूषण और भी हों, अप्रासंगिक होने से वर्णन न किया हो। सोने और बिछाने के सामान में रत्नजटित,

हाथीदाँत के पावेवाले पलंग, हंसतूल[1] गर्भशय्या, उत्तरच्छद[2] और उपधान[3] का उल्लेख है।

सिक्के

दण्डी के समय में ये सिक्के प्रचलित थे—

१--काकणी, २--कार्षापण, ३--दीनार।

तांबूल

उस समय तांबूल का अधिक प्रचार था। सुगन्धित खदिर आदि पान बनाने की सामग्री हेमकरंड (सोने की पिटारी) में रक्खी जाती थी। बने हुए पान जैसे आजकल (बाँस की तीलियों के बने हुए) बेलहरे में रखने की रीति है, वैसे उस समय चमड़े की उपहस्तिका में रखते थे। उसे चर्म-मसिका भी बोलते थे। पान के साथ कर्पूरगुटिका के खाने का रिवाज था। तंबाकू उस समय नहीं खाई जाती थी।

सामाजिक दोष

दण्डी के भारत में जहाँ हिन्दू स्वाधीनता थी, देश धन-धान्य से पूर्ण था, वहाँ अनेक सामाजिक दोष भी थे। वह समय, चन्द्रगुप्त के भारतवर्ष का न था जिसमें चोर न थे और गृहद्वार बन्द करने की आवश्यकता न पड़ती थी। उस समय चोरियाँ होती थीं। खेद है कि उस समय चोरी के साधन-यन्त्र आज कल से भी अधिक थे। दण्डी ने बारह यन्त्रों का उल्लेख किया है।

१--हंसतूल गर्भशय्या = हंसों के पखनों की रुई जिसमें भरी हो ऐसा गद्दा या हंस के समान शुभ्र जिसमें रुई भरी हो ऐसा गद्दा।

२--बिछाने की चादर।

३—तकिया

१--फणिमुख (सुरंग खोदने का यन्त्र) ।

२--काकली (कौवे की चोंच की तरह कैंची)।

३—सदंशक (गहरी चीजें खोदने का यन्त्र) ।

४—पुरुष-शीर्षक (मनुष्य के सिर की भाँति काठ का सिर, जिसे सेंध में घुसने के पहले डालते थे, ताकि यदि कोई शस्त्र आदि का प्रहार करे तो उसी पर पड़े ।

५--योगचूर्ण (यह एक प्रकार का औषधियों का चूर्ण होता था जिसे अग्नि पर डालने से लोगों को गहरी नींद आ जाती थी) ।

६--योगवर्तिका (बिना आग के प्रकाश करने का यन्त्र) ।

७--मानसूत्र (नापने की रस्सी) ।

८--कर्कटक (केकड़े की तरह यन्त्र-विशेष) ।

९—रज्जु (अटारी पर चढ़ने के लिए रस्सी)

१०—दीप-भाजन ।

११—भ्रमर (खोदने का यन्त्र) ।

१२—करजक (जिसमें पतंगे आदि चिराग़ बुझाने को बन्द रहते थे) ।

आजकल की भाँति उस समय भी नगररक्षक (पुलिस) नियुक्त थे। रात को पहरा भी पड़ता था, तब भी चोरियाँ धड़ल्ले से होती थीं। अक्सर चोर पकड़ कर कारागार भेज दिये जाते थे। द्यूत (जुआ) के भी अड्डे थे । द्यूत आजकल की भाँति गैरकानूनी न था। द्यूतसभा होती थी। एक द्यूताध्यक्ष होता था। वह द्यूत का प्रबन्ध करता था और जीते हुए धन में से भाग लेता था। बहुत सम्भव है कि द्युताध्यक्ष की नियुक्ति राजा की ओर से होती

हो। उस समय पच्चीस प्रकार के द्यूत प्रचलित थे, पर प्रबन्ध अच्छा न था। जुआ खेलनेवालों में झगड़ा हो जाता था, यहाँ तक कि गाली-गलौज की नौबत आ जाती थी।

मुर्गों की लड़ाई

उस समय लोग मुर्गों की लड़ाई के शौकीन थे। दण्डी को भी उसमें दिलचस्पी रही होगी। मुर्गों की नारिकेल, बलाका आदि जातियाँ लिखी हैं। नारिकेल जातीय पच्छिमी कुक्कुट को बलाका जातिवाले कुक्कुट से अधिक लड़नेवाला लिखा है।

दशकुमारचरित गद्यकाव्य है, इतिहास ग्रन्थ नहीं। कथाओं में तत्कालीन देश और समाज की बातों का जहाँ तक उल्लेख था, उनको यहाँ दिखलाने का उद्योग किया गया है।

६—अमरुक-शतक

महाकवि अमरुक का शृङ्गारी कवियों में अत्यन्त ऊँचा दर्जा है। यह कब, कहाँ, किस कुल में उत्पन्न हुए, इसका कुछ भी पता नहीं। 'ध्वन्यालोक' में श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने इनका उल्लेख किया है। इससे विद्वान् इनका समय ईसा की नवम शताब्दी के प्रथम मानते हैं। खेद है, संस्कृत भाषा का प्रामाणिक इतिहास न होने से इनकी जीवन-घटनाओं का वृत्त कुछ भी नहीं मालूम है। कवि के देश, काल और तात्कालिक समाज के ज्ञान के विना उसकी रचना का पूरा पूरा आनन्द नहीं मिलता। इनका बनाया हुआ 'अमरुक-शतक' मिलता है।

यह पुस्तक (अमरुक-शतक) काव्य की छोटी सी मञ्जूषा है। इसमें नौ अनर्घ पद्य-रत्नों का संग्रह है। साहित्य के बाज़ार में इन पद्य-रत्नों का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। आनन्दवर्धन और मम्मट प्रभृति जौहरियों ने इसकी प्रशंसा की है। कविता के ऐसे उत्कृष्ट ग्रन्थ को शृङ्गार-रस के विरोधी भले ही पसन्द न करें, पर जिन्होंने हृदय पाया है और जो 'कला का उद्देश्य कला ही है' यह समझते हैं, उनके लिए अमरुक-शतक बहुत कुछ है। इस निबन्ध में उसकी विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया जायगा।

साहित्य के मर्मज्ञों ने काव्य को ध्वनि, गुणीभूत व्यङ्ग्य और चित्र इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। ध्वनि काव्य प्रथम श्रेणी का, गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य दूसरी श्रेणी का और चित्र काव्य तीसरी श्रेणी का होता है। अमरुक-शतक में ध्वनि काव्य के लक्षण सर्वत्र और गुणीभूत व्यङ्ग्य के कहीं कहीं घटित

होते हैं। तृतीय श्रेणी यानी चित्र काव्य के लक्षण का अत्यन्ताभाव है। कवि ने अमरुक-शतक में कविता के प्राण ध्वनि और रस का ही चमत्कार दिखलाया है। इसमें सर्वत्र शृङ्गार रस है। कहीं कहीं प्रपाणक की भाँति अन्य रसों का भी मधुर मिश्रण है, जिसके स्वाद को चखकर सहृदय ओंठ चाटते हैं। अमरुक-शतक का सा रस-चमत्कार अन्यत्र दुर्लभ है। इसके एक एक पद्य में जो रस-सामग्री सुलभ है वह अन्य कवियों के बड़े बड़े प्रबन्धों में दुर्लभ है। इसलिए भरत टीकाकार ने लिखा है कि "अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते"। इसके अनुकूल अमरुकशतक की भाषा अत्यन्त सरल और मधुर है। इसमें प्रसाद गुण है। दो-चार हलके सोफियाने आभूषणों से सुन्दरियों का अकृत्रिम सौन्दर्य जैसे और भी उद्भासित हो जाता है, उसी तरीके से परिमित अर्थालङ्कारों से स्वभाव-सुन्दर अमरुक-शतक की आभा दूनी हो गई है। अमरुक-शतक में भिन्न-भिन्न नायिकाओं का वर्णन अनूठे ढंग से किया गया है। प्रणय और मान का ऐसा सुन्दर चित्र बहुत कम देखने में आता है। अमरुक की कविता में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संपूर्ण वर्णन सच्चा और स्वाभाविक है। काव्य के जिन विशिष्ट गुणों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं उन्हें अब कुछ विस्तार के साथ दिखलाते हैं।

ध्वनि-काव्य

किसी नायिका ने नायक को बुलाने के लिए दूती भेजी है। दूती खाली वापिस आती है, मगर उसका रंग दूसरा ही है। नायिका कहती है कि अरे झूठ बोलनेवाली, अरे अपनी सखी की वियोग-व्यथा का कुछ भी ख्याल न करनेवाली दूती, तू यहाँ से बावली ही नहाने गई थी, उस अधम के पास नहीं गई थी;

क्योंकि तेरे कुच-प्रान्त से चन्दन बिल्कुल गिर गया है, नीचे के होठ से पान की सुर्खी बिल्कुल धुल गई है, आँखों में इधर-उधर काजल बिलकुल छूटा हुआ है और दुबली-पतली देह में रोंगटे खड़े हो रहे हैं--

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरः
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः,
मिथ्यावादिनि दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

यहाँ पर अधम पद में यह व्यङ्ग्य है कि तू बावली नहाने न गई थी बल्कि उसी अधम के पास गई थी। अमरुक का उपर्युक्त पद्य ध्वनि का कितना उत्कृष्ट उदाहरण है ; प्राचीन और नवीन सभी आचार्य्यों ने ध्वनि के उदाहरण में इसी पद्य को दिखलाया है, मानो ध्वनि का इससे सुन्दर दृष्टान्त है ही नहीं। नायिका कितनी उत्तम विदग्ध है। गाली-गलौज करना उसकी आदत नहीं है। नहाने की बात में क्या पते की कही है जिससे सहृदय चौंक उठे हैं।

नायक के घोर अपराध से नायिका रूठी बैठी हुई है। नायक ने मान छुड़ाने के लिए बहुत अनुनय-विनय किया। सिर कदमों पर रक्खा; मगर नायिका के मान की गाँठ जरा भी ढीली नहीं हुई। आखिर बेचारा दरवाजे पर धरना देकर बैठ गया। उस समय उसकी कोई चतुर सहेली कहती है—तेरा प्राणप्रिय बाहर (दरवाजे पर) बैठा है और पृथ्वी पर लिख रहा है। तेरी सखियों ने अभी तक कुछ खाया-पिया नहीं है। उनकी आँखें रोते रोते सूज गई हैं। पिंजड़े के तोतों ने हँसना-पढ़ना भी छोड़ दिया है। तेरी यह हालत हुई है। अरी कठिन, अब तो मान छोड़—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राण दयितः
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः;
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जर-शुकैः
तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना।

पद्य का चमत्कार अनुवाद में नहीं दिखलाया जा सकता। वह तो मूल ही में है। यहाँ पर कवि ने वर्तमान-कालिक 'लिखित' क्रिया न लिखकर शतृप्रत्यन्त लिखन् लिखा है। शतृ-प्रत्यय से लेखन व्यापार की अप्रधानता सूचित होती है। 'आसीत्' भूत-कालिक क्रिया न लिखकर 'आस्ते' वर्तमान-कालिक लिखी है जिससे ध्वनि है कि प्रसाद पर्यन्त बैठने की ठान ली है [बैठे हैं तेरे दर पै तो कुछ करके उठेंगे] और 'भूमौ' सप्तम्यन्त न लिख कर 'भूमिम्' द्वितीयान्त लिखा है जिससे ध्वनि है कि बुद्धि-पूर्वक कुछ भी नहीं लिख रहा है, बल्कि हृदयशून्य हो खाली खोद ही रहा है। सुनते हैं कि स्वर्गीय साहित्यमूर्ति महा-महोपाध्याय गङ्गाधर शास्त्री को यह पद्य अत्यधिक पसन्द था। अक्सर इसे पढ़कर आनन्द में मग्न हो झूमने लगते थे।

गुणीभूत व्यङ्ग्य

किसी का पति सौ मंजिल की दूरी पर परदेश जानेवाला है। उसकी स्त्री रो-रो बातें करके जाने से रोकती है। कहती है कि प्रिय, पहले पहर ही में आ जाओगे या दूसरे में या तीसरे में ? (इस पर जब उसका पति कुछ नहीं बोलता है तब कहती है) अथवा सम्पूर्ण दिवस के व्यतीत होने पर आओगे ?

प्रहरविरतौ मध्यं वाह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि ?
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासो
हरतिगमनं बालालापैः स वाष्पगलज्जलैः॥

यहाँ पर सम्पूर्ण दिवस ही परम अवधि है। इसके बाद प्राणों को धारण न कर सकूँगी। वह व्यङ्ग्य प्रिय-गमन-निषेध रूप वाच्य अर्थ की सिद्धि करता है। वाच्य से व्यङ्ग्य में अधिक चमत्कार न होने के कारण गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

रस-संकर

आर्द्र-अपराध (ताजा-कसूर) करनेवाले किसी कामी की भाँति शम्भु के बाण की अग्नि तुम्हारे विघ्नों को दूर करे, जो रोती हुई त्रिपुर-सुन्दरियों के हाथ में आ लगी तो उन्होंने उसे फेंक दिया, जब आकर उसने दुपट्टे के खूँट को पकड़ा तब उसे खूब पीटा, जब उसने बालों को पकड़ा, तब उसे झिटका दे हटाया, जब पैरों पर आ गिरी तब उसकी तरफ देखा भी नहीं और जब उसने आलिङ्गन किया तब उसे दुतकारा। (कामी भी अपराध करने पर मानिनी का जब हाथ पकड़ता है तब झिटकारा जाता है, दुपट्टे का खूँट पकड़ने पर पीटा जाता है, और पैरों पर गिरने पर देखा भी नहीं जाता है तथा आलिंगन करने पर दुतकारा जाता है।)

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशु कान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

त्रिपुर-ध्वंस के प्रति शंकर भगवान् के उत्साह रूप का करुण रस अंग है और शृंगार रस उसका अंग है। यहाँ पर रस-संकर विचित्र स्वाद पैदा कर रहा है। संकीर्ण रस की रचना रस-कवियों की कसौटी कहलाती है (संकीर्णरसोपनिबन्धस्तु निकषो रसकवीनाम्)।

धीरा मध्या

अपराधी प्रिय के प्रति चतुर नायिका ने अपने कोप को उपचार (तकल्लुफ) से ही चरितार्थ किया। ज्यों ही वह घर आया त्यों ही नायिका उठ खड़ी हुई। इस तरह उसने एक आसन पर बैठने का भी मौका न दिया। बीड़ा लाने के बहाने गाढ़ आलिंगन में विघ्न डाला और प्रिय के समीप सखियों को काम में लगाती हुई उसने बातें भी न कीं।

एकत्रासनसंस्थितः परिहृता प्रत्युद्गमाद्दूरतः
ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः;
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥

मध्या-धीरा धीरा

नायक—बाले, (रूठी हुई नायिका को देखकर नायक 'बाले' कहकर पुकारता है। बाले पद से ध्वनि है कि तू अभी अल्पवयस्का है। समझ है नहीं, व्यर्थ ही किसी ने बहका दिया है)

नायिका—नाथ, (नायिका प्रिय न कहकर नाथ कहती है जिससे मान व्यंग्य है)

नायक—मानिनि, क्रोध छोड़ो।

नायिका— क्रोध कर मैंने किया ही क्या है?

नायक—मुझे बड़ा खेद है।

नायिका—आपने अपराध ही क्या किया है? अपराध तो मैं ही करती हूँ।

नायक—तो फिर फूट फूट कर रोती क्यों हो?

नायिका—किसके सामने?

नायक—मेरे।

नायिका—मैं आपकी कौन हूँ ?

नायक—दयिता ।

नायिका—नहीं हूँ, इसी लिए तो रो रही हूँ ।

बाले, नाथ, विमुञ्च मानिनि रुषं, रोषान्मया किं कृतम् ?
खेदोस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि !
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते ?
नन्वेतन्मम का तवास्मि ? दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ।

कलहान्तरिता

नायक नायिका के पैरों पर गिरा; परन्तु वह प्रसन्न होने के बदले बिगड़ी और प्रच्छन्न, धूर्त आदि कहकर जली-कटी सुनाने लगी। जब नायक अपमानित हो चल दिया तब उसने हृदय पर हाथ रख और लम्बी साँस खींच आसुओं से डबडबाई हुई दृष्टि सखियों पर डाली ।

चरणपतनप्रत्याख्यानप्रसादपराङ्मुखे
निभृतकितवाचारेत्युक्ते रुषा परुषीकृते ।
व्रजति रमणे निश्वस्योच्चैः स्तनार्पितहस्तया
नयन-सलिलच्छन्ना दृष्टिः सखीषु निपातिता ।

कलहान्तरिता का तो यह सुन्दर दृष्टान्त है ही पर विषाद रूप भाव का उदय और 'स्तनार्पितहस्तया' यह ध्वनिपूर्ण पद अनिर्वचनीय आनन्द दे रहा है ।

अलंकार-चमत्कार

यद्यपि अलंकार रस के उपकारक होते हैं तथापि जिस कविता में कवि का विशेष ध्यान अलङ्कार-वैचित्र्य की ओर रहता है उसमें रस गौण हो जाता है। साहित्यिकों ने उसे तृतीय-श्रेणी का

काव्य माना है। मुक्तक जैसे रसप्रधान काव्य में उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। अमरुक-शतक में कवि ने रस और ध्वनि को ऐसा निबाहा है कि चित्र काव्य की कहीं गन्ध भी नहीं आने पाई। जिन अलङ्कारों का प्रयोग किया है उनसे रस-परिपोष भली भाँति हो रहा है।

धीरा मध्या के उदाहरण में जो पद्य 'एकत्रासन' हम दिखला चुके हैं, उसमें नायिका ने उपचार के बहाने से मान को छिपाया है। इसलिए मीलित अलंकार है जो रस को परिपुष्ट कर रहा है। नीचे दिये पद्य में 'व्याजोक्ति' अलंकार कितना चमत्कार पैदा कर रहा है। पर उससे विप्रलम्भ-शृङ्गार जरा भी दबने नहीं पाया है।

नायिका अपने प्राणेश्वर की करतूतों से मन ही मन कुढ़ रही है; किन्तु प्रेमाधिक्य के कारण प्रियतम को बुरा-भला कहना तो दूर रहा, अपने मनोगत भावों को भी छिपाना चाहती है। परन्तु मानसिक व्यथाओं का स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। वह सूखकर काँटा हो गई है। रंग पीला पड़ गया है। एक दिन उसके प्रिय ने पूछा --सुन्दरि, यकायक तुम्हारे अंग इतने दुर्बल हो गये हैं? और गाल क्यों पीले पड़ गये हैं? नायिका ने कहा, यह सब स्वभाव से ही है यानी मैं स्वभाव से ही कृशांगी हूँ। यह कहकर, मुँह फेर पलकों पर छलके हुए आँसुओं को दूसरी तरफ टप टप गिरा दिया और लम्बी साँस खींची—

अंगानामतितानवं कुत इदं कस्मादकस्मादिदम्?
मुग्धे पाण्डुकपोलमाननमिति प्राणेश्वरे पृच्छति;
तन्व्या सर्वमिदं स्वभावत इति व्याहृत्य पक्ष्मान्तर-
व्यापी वाष्पभरस्तया वलितया निश्वस्य मुक्तोऽन्यतः ॥

शृङ्गार-रस में मनोवेग और भावों के अभिव्यंजन में कोमल

और सीधी सादी भाषा का प्रयोग ही उचित है। उसमें यमकादि शब्दालङ्कारों से परिपूर्ण कृत्रिम भाषा का प्रयोग बिल्कुल अस्वाभाविक है। अतएव अमरुक-शतक में यमकादि अलङ्कारों के दर्शन नहीं होते। सहृदयों की सम्मति है कि "ध्वन्यात्मनि शृंगारे यमकादिनिबंधनम् शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः" अर्थात् ध्वन्यात्मक शृङ्गार में यमक आदि अलङ्कारों की-रचना प्रमाद ही है और खास कर विप्रलम्भ में।

प्रेम

अमरुक कवि ने इस पद्य में प्रेम का कितना सुन्दर चित्र खींचा है।

कोपो यत्र भृकुटिरचना निग्रहो यत्र मौनं
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः॥

अपराध कर अनुनय करनेवाले किसी प्रेमी से उसकी प्रेयसी कहती है—जिस प्रेम में भौंहों का टेढ़ा करना ही क्रोध था, मौन ही दण्ड था, एक दूसरे को देखकर मुसकिरा देना ही अनुनय था, और दृष्टिपात ही प्रसाद था, वह प्रेम अब नष्ट हो गया है; क्योंकि पैरों पर तुम लोट रहे हो और मैं ऐसी दुष्ट हूँ कि मेरा क्रोध नहीं दूर होता।

दोष

मनुष्य की रचना सर्वथा दूध की धोई नहीं हो सकती। उसमें दोषों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। अमरुक-शतक के एक आध श्लोक में शृंगार-विरोधी वैराग्य का वर्णन आ गया है जिससे शृंगार रस दब गया है पर एक-आध दोष वैसे ही हैं जैसे चाँद में धब्बे।

७—मालती-माधव

संस्कृत-साहित्य में महाकवि भवभूति प्रसिद्ध नाट्यकार हैं। उनकी रचनाओं का माहात्म्य समय की अग्रगति के साथ बढ़ता ही जाता है। इतिहासवेत्ता जनरल कनिंघम के मतानुसार भवभूति का समय ईसा की सप्तम शताब्दी का शेष भाग है। विश्व-विश्रुत 'मालती-माधव' इनकी ही कृति है। मालती-माधव उज्जयिनी में महाकालेश्वर महादेव के यात्रोत्सव पर खेला गया है। यहाँ उसी पर विचार किया जायगा।

संक्षिप्त कथावस्तु

अङ्क १

विदर्भराज के मन्त्री देवरात का अपने पुत्र माधव को पद्मावती में आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) पढ़ने के लिए भेजना। वहाँ माधव का राजमन्त्री की कन्या मालती पर मोहित होना। मालती और माधव का काम-मन्दिर में अन्योन्य-दर्शन तथा मालती के लिए माधव का वकुल-माला देना। मालती की सखी लवंगिका का बौद्ध-संन्यासिनी कामन्दकी से मालती और माधव के प्रेम का वर्णन करना।

अंक २

प्रवेशक में मन्त्री भूरिवसु की दो दासियों का आपस में वार्तालाप। नर्म्म-सचिव नन्दन का महाराज द्वारा मन्त्री पर अपने विवाह के लिए दबाव डलवाना।

अंक ३

मालती-माधव की प्रेम-वृद्धि के लिए कामन्दकी का दूती का कार्य करना। मकरन्द का स्वयं घायल होकर मदयन्तिका (नन्दन की भगिनी) की व्याघ्र से रक्षा करना।

अंक ४

घायल मकरन्द का बेहोश होना। उनकी दशा को देख कर माधव का मूर्च्छित होना। कामन्दकी का उन पर कमण्डलु का जल छिड़कना तथा मालती और उसकी सखियों का दोनों के ऊपर कपड़े से हवा करना। दोनों का होश में आना। मदयन्तिका से नन्दन के नौकर का यह कहना कि महाराज ने स्वयम् आकर तुम्हारे भाई से कहा है कि राजमन्त्री मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं कर सकते। मालती मैं तुम्हें देता हूँ। यह सुनकर मालती और माधव का दुःखी होना।

अंक ५

अघोरघण्ट कापालिक का कराला देवी की बलि के लिए मालती को ले जाना। माधव का वहाँ पहुँच जाना और मालती की रक्षा करना।

अंक ६

मालती के साथ नन्दन के विवाहोत्सव का प्रबन्ध होना। रात्रि को मालती का देव-पूजा करने के लिए मन्दिर जाना। वहाँ माधव के साथ मालती का विवाह कामन्दकी के प्रयत्न से होना। नन्दन का मालती-वेषधारी मकरन्द से विवाह होना।

अंक ७

मालती-वेषधारी मकरन्द से नन्दन की रति-प्रार्थना। नन्दन को मकरन्द का पीटना। मकरन्द और मदयन्तिका का विवाह।

अंक ८

मकरन्द का राजकीय-सेना से युद्ध। माधव का मकरन्द को सहायता करना। कपालकुण्डला द्वारा मालती का अपहरण।

अंक ९

विरही माधव का विलाप। मकरन्द का आश्वासन। योगेश्वरी सौदामिनी का माधव को मालती का अभिज्ञान देना।

अंक १०

मालती को नष्ट जान कर माता-पिता का चिता में बैठने का इरादा करना। मालती-माधव का पुनर्मिलन।

चरित्र-चित्रण

मालती 'मालती-माधव' की नायिका है। वह लोक में अनुपम सुन्दरी तथा परम गुणवती है। प्रकरण में उसका कन्या-चरित खूब ही प्रस्फुटित हुआ है। उसके हृदय पर माधव जैसे सुरूप युवा ने पूर्ण अधिकार कर लिया है। वह मानसिक व्यथाओं से व्यथित हो स्वयं अपनी सखी लवङ्गिका से कहती है—तीव्र मनो-रोग विष की भाँति सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो रहा है तथा निर्धूम अग्नि की भाँति जल रहा है एवं बाह्य अवयवों को ज्वर की तरह पीड़ित कर रहा है। इस दुरवस्था में न तात, न अम्बा और न आप ही रक्षा कर सकती हैं। इस प्रकार मालती के संशयापन्न जीवन को देखकर लवंगिका मालती से माधव के मिलन का प्रस्ताव करती है तथापि मालती कहती है "सहि, दइद मालतीजीविदे, साहसोवण्णासिणि, अवेहि" सखी, दूर हो ऐसे साहस का उपदेश करती हो! तुम को केवल मालती का ही जीवन प्रिय है। सम्पूर्ण कलाओं से चन्द्र गगन में भले ही जले और कामदेव चाहे भस्म ही कर डाले। ये दोनों मृत्यु से अधिक कर ही क्या सकते हैं। श्लाघ्य पिता, निर्मल कुलवाली

मेरी माता और निष्कलङ्क (अपना) कुल ही मुझे प्रिय है। मुझको न अपना जीवन प्यारा है और न यह जन (माधव) ही।

ज्वलतु गगने शत्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,
दहतु मदनः किं वा मृत्योः परेण विधास्यतः;
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं, न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥

मालती के इन वचनों में एक प्रकार का तेज है, विशुद्ध कुल का गौरव है; माता-पिता के यश का विचार है, जो सर्वथा कुल-कन्या के स्वभाव के अनुरूप है। भारतीय समाज में कन्याओं को स्वयं विवाह करने का अधिकार नहीं है, किन्तु पिता को है। ऐसी परिस्थिति में पिता जब कन्या का विवाह अनुरूप वर के साथ नहीं करता है, किन्तु किसी बूढ़े बाबा के गले मढ़ देता है, कन्याएँ लज्जावश चाहे मुख से कुछ न कहें पर उनके हृदय में मर्म्मान्तिक व्यथा होती है, जिसका अनुभव वही करती हैं और मन ही मन अपने बाप को कोसती हैं। भवभूति ने मालती के चरित में इसको खूब दिखलाया है। राजा के अनुरोध से मालती के पिता भूरिवसु वृद्ध नन्दन के साथ मालती का विवाह अंगीकार करते हैं। मालती मन ही मन कुढ़ कर कहती है—'राआराहणं क्खु तादस्स गुरुअं ण उण मालदी। हा ताद! तुमं वि मम णाम एव्वंत्ति सव्वधा जिदं भोअतिह्णाए" तात मालती की अपेक्षा राजा को प्रसन्न करना श्रेष्ठ समझते हैं। फिर कहती है कि हा तात, आपने भी मेरे साथ......हा भोग-तृष्णा ने सबको जीत लिया है। वास्तव में मालती का यह वाक्य कितना गम्भीर मर्म-स्पर्शी है कि भोग-तृष्णा ने सब को जीत लिया है अर्थात् दासवृत्ति वालों की भोग-तृष्णा इतनी बलवती है कि वे अपने अपत्य- स्नेह को भी महत्त्व नहीं देते।

पञ्चम अङ्क में कपालकुण्डला और अघोरघण्ट कापालिक, कराला देवी की बलि के लिए, मालती का वध करना चाहते हैं। उस समय भी—मृत्यु के समय भी—नन्दन-विवाह का शल्य मालती के हृदय से नहीं निकला है। पिता की निष्ठुरता का उपालम्भ देकर वह करुण क्रन्दन करती है "हा ताद ! णिक्करुण ! एसो दाणिं दे णरेन्द चित्ताराहणो व अरणं जणो विविज्जइ" हा तात, निर्दय, नरेन्द्र के चित्त की आराधन-स्वरूप सामग्री यह मालती इस समय नष्ट हो रही है।

मालती के उपर्युक्त वाक्य कितने करुणा-पूर्ण हैं, पढ़ते-पढ़ते मालती के प्रति समवेदना हो आती है। आँखों में आँसू आ जाते हैं। बे-मेल विवाह करनेवाले पिता के प्रति घोर घृणा उत्पन्न होती है (भवभूति कवि ने आज से १३०० वर्ष पूर्व जिस सामाजिक कुरीति का चित्र खींचा है, दुर्भाग्यवश वह आज भी मौजूद है। वृद्धों की विवाहेच्छा पहले से भी अधिक है)। मालती के कन्याचरित का यह चरम विकास है। उपन्यास की भाँति नाटक में नाट्यकार को स्वयं कुछ कहने का अधिकार नहीं होता, पर किसी पात्र के ऐसे उद्गार होते हैं जो कवि के हृदय के होते हैं। यहाँ पर भवभूति ने मालती के द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त किया है।

पञ्चम और षष्ठ अंक में हम मालती के हृदय को कितना स्नेहयुक्त और कोमल पाते हैं। पंचम अंक में कपालकुण्डला मालती से कहती है कि तेरा अन्तिम समय है। यदि संसार में तेरा कोई प्रेमी हो तो क्षण भर याद कर ले। मालती माधव का स्मरण करती है—हा नाथ, हा दयित, हा माधव, मेरे परलोक जाने पर याद करते रहना; क्योंकि मरने पर भी जिसकी याद प्रिय जन करते हैं वह मृत होने पर भी जीवित है। षष्ठ अंक में

मालती का विवाह नन्दन के साथ होने जा रहा है। लवंगिका मालती के पास कुसुम-माला और अंगराग लेकर आती है। मालती कहती है कि इनका क्या होगा? वह आत्महत्या का निश्चय कर लवंगिका को अन्तिम उपदेश (वसीयत) करती है कि मेरे जीवन-प्रद जन (माधव) का अनिर्वचनीय सुन्दर शरीर, मुझे मृत सुनकर, किसी प्रकार नष्ट न होने पावे तथा मेरे कथा-मात्र-शेष होने पर उनकी लोक-यात्रा शिथिल न होने पावे, ऐसा यत्न करना। ऐसा करने पर ही मैं प्रिय सखी के प्रसाद से कृतार्थ हूँगी।

उनको न तो अब चन्द्र-दर्शन में और न किसी प्रिय-जन से मिलने में आनन्द आता है। अत्यन्त अधीर होकर वह आन्त-रिक ताप को प्रकट करते हैं। उनका प्रियङ्गु के समान श्याम-वर्ण पीला और दुबला हो गया है; पर इससे लावण्य और खरा हो गया है। मैंने सुना है और निश्चय है कि मालती ही इस कामोन्माद का हेतु है। फिर कहता है कि माधव मृत्यु के लिए बाल आम्रवृक्ष पर, जिस पर कि कोयल कूक रही है और बौर आया हुआ है, दृष्टि डालता है; वकुल-(मौलसिरी) कुसुम की गन्ध से सुगन्धित वायु के मार्ग में लोटता है, दावाग्नि के प्रेम से भीनी हुई कमलिनी के पत्तों का उत्तरीय ओढ़ता है और बार बार चन्द्रमा की किरणों की शरण जाता है—

धत्ते चक्षुर्मुकुलिनि रणत्कोकिले बालचूते
मार्गे गात्रं क्षिपति वकुलामोदगर्भस्य वायोः;
दाव-प्रेम्णा सरसबिसिनीपत्रमात्रोत्तरीय-
स्तापन्मूर्तिं श्रयति बहुशो मृत्यवे चन्द्रपादान् ॥

मालती कामन्दकी का पहले ही की तरह अदब करती है; पर कामन्दकी उसे सखी के समान विश्वास-पात्र बना लेती है।

पुष्पावचय से जब मालती थक जाती है, तब कामन्दकी कहती है कि श्रम से तेरी वाणी स्खलित हो रही है, अङ्ग ढीले पड़ रहे हैं; मुखचन्द्र पर पसीने की बूँदें आ गई हैं और नेत्र मुकुलित हो रहे हैं। अरी सुन्दर भौंहोंवाली, तेरी तो थकावट से ऐसी दशा हो गइ है जैसी प्रिय-दर्शन से होती है।

स्खलयति वचनं ते स्रंसयत्यङ्गमङ्गम्
जनयति मुखचन्द्रोद्भासिनः स्वेदबिन्दून्
मुकुलयति च नेत्रे सर्वथा सुभ्रु स्वेदस्
त्वयि विलसति तुल्यं वल्लभालोकनेन ॥

कामन्दकी

कामन्दकी पण्डिता, नीतिकुशला बौद्ध सन्यासिनी है। यद्यपि संसार से विरक्त होकर उसने संन्यास ग्रहण कर लिया है तथापि परोपकार या लोक-कल्याण सम्बन्धी कार्यों को नहीं छोड़ा है। वह सांसारिक कार्यों में भी भाग लेती है। मन्त्री भूरिवसु गुप्त रीति से उसे मालती और माधव का विवाह कराने के लिए नियुक्त करते हैं। प्रकाश्य रूप से वह राजा की आज्ञा का विरोध नहीं कर सकते हैं (देवरात, भूरिवसु और कामन्दकी इन तीनों ने साथ साथ विद्याध्ययन किया था। छात्रावास में ही देवरात और भूरिवसु ने प्रतिज्ञा की थी कि हम लोग आपस में अपत्य सम्बन्ध करेंगे)। यह बात मालती तक नहीं जानती है। कामन्दकी का अपने मित्र भूरिवसु पर अनिर्वचनीय प्रेम है। वह स्वयम् अपनी शिष्या बुद्धरक्षिता से कहती है—"मन्त्री जी मुझे कर्तव्य विषय में लगाते हैं। यह प्रेम का फल है, विश्वास का सार है, मेरे प्राण अथवा तप से यदि मित्र का कार्य हो जावेगा तो मैं अपने को कृत-कृत्य समझूँगी।" कामन्दकी में हम

इतना साहस और नीति-चातुर्य देखते हैं कि वह राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र रचती है। मालती का माधव जैसे गुणी युवा के साथ विवाह सर्वथा समुचित है; वृद्ध नन्दन का राजा के द्वारा दबाव डलवा कर विवाह करना सर्वथा न्यायविरुद्ध है—इस प्रकार छिप कर आन्दोलन करती है। चतुर्थ अङ्क में राजा के अनुचित दबाव का विरोध करती है। मकरन्द से कहती है—महाराज को अपनी कन्या पर अधिकार है। मालती उनकी कन्या नहीं है। कन्या-दान में राजा लोग प्रमाण हैं—इस प्रकार धर्म-शास्त्र आज्ञा नहीं देता है। तृतीय अङ्क में कामन्दकी दूती का काम करती है। मालती के समक्ष माधव की शोचनीय अवस्था का वर्णन करती है कि मदनोद्यान-यात्रा के दिवस से माधव अत्यन्त विकल है। शरीर-संताप प्रतिदिन बढ़ता जाता है।

भवभूति ने कामन्दकी के चित्रण में बड़ा कौशल दिखलाया है। जब हम देखते हैं कि चीर-चीवर-धारिणी परिणत वयवाली कामन्दकी निसृष्टार्थ दूती का काम करती है, तो बड़ा विस्मय होता है और साथ ही यह भी मालूम होता है कि मानव-जीवन कितना गूढ़ और रहस्यमय है! वेष और आकृति से जो मनोवृत्ति का अनुमान करते हैं वे धोखा उठाते हैं। भवभूति मानव-जीवन की अच्छी व्याख्या करते हैं जो एक सच्चे नाट्यकार का प्रधान गुण है।

कामन्दकी ने 'अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः' का जो जामा पहना है वह केवल परोपकार और सदिच्छा के कारण ही। अतः कामन्दकी के प्रति दर्शकों का पूज्य भाव ही है। कामन्दकी ने इस तरह समाज के आगे यह उच्च आदर्श उपस्थित किया है कि वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा प्राणियों पर दया करना भी कुछ कम महत्त्व नहीं रखता है। भवभूति ने मकरन्द द्वारा स्पष्ट रूप

से यही कहलवाया है। मकरन्द कामन्दकी से कहते हैं कि भगवति, शिशुजनों पर आपका स्नेह और दया संसार से विरक्त भी आपके चित्त को द्रवीभूत करती है। इसी लिए मालती और माधव के विवाहार्थ आपका यत्न है जो सर्वथा प्रव्रज्या-सुलभ आचार के विपरीत है

दया वा स्नेहो वा भगवति निजेऽस्मिन् शिशुजने
भवत्याः संसाराद्विरतमपि चित्तं द्रवयति:
अतश्च प्रव्रज्या-समयसुलभाचारविमुखः
प्रसक्तस्ते यत्नः प्रभवति × × × ×

अन्त में मालती पर कामन्दकी का जादू चल जाता है। वह वासवदत्ता, उर्वशी आदि के इतिहासों का वर्णन कर प्रभाव डालती है और गान्धर्व विवाह करवा देती है। कामन्दकी संन्यासिनी होने पर भी संसारिणी है और साध्वी होने पर भी कूटनीतिज्ञ है। 'मालती-माधव' की कामन्दकी सर्वस्व है। उससे यदि वह निकाल दी जावे तो प्रकरण का मजा किरकिरा हो जावेगा।

माधव

माधव प्रस्तुत प्रकरण के नायक हैं। वह शूरवीर युवक छात्र हैं। कुण्डिनपुर से पद्मावती को आन्वीक्षिकी विद्या के अध्ययन के लिए आये हैं। वहाँ पद्मावती के राजमन्त्री की कन्या के नयन-बाणों के लक्ष्य हो जाते हैं। विद्यार्थी का युवती के नयन-बाणों का लक्ष्य होना नैतिक पतन अवश्य है पर भवभूति ने माधवचरित में, जान बूझकर, नैतिक गुणों का अधिक विकास नहीं किया है; कारण यह कि उन्होंने नाटक के विषय को छोड़ कर 'प्रकरण' का विषय चुना है। प्रकरण में उदात्त-चरित का अङ्कित करना आव-

श्यक नहीं है। अतएव भव-भूति में माधव का देवचरित न लिख कर मानवचरित लिखा। माधव के चरित्र में शौर्य-गुण खूब प्रस्फुटित हुआ है। उन्होंने अघोरघण्ट कापालिक जैसे नर-पिशाच का वध किया है जो एक निर्दोष अबला की हत्या करना चाहता था।

इसके अतिरिक्त मकरन्द के ऊपर क्रुद्ध होकर जब राजा ने नगर-रक्षकों को आक्रमण करने के लिए भेजा है उस समय उन्होंने अपने मित्र की सहायता की है और अपने बाहुबल से नगर-रक्षकों को परास्त किया है। माधव उच्च कोटि के प्रेमी हैं। वे नवम अङ्क में मालती के प्रेम में पागल हो जाते हैं। कभी मेघ और पौरस्त्य पवन से मालती को पूछते हैं और कभी मूर्च्छित हो जाते हैं।

मकरन्द

मकरन्द माधव का बाल्य-सखा है। माधव की भाँति वह भी शूर-वीर अथच प्रेमी है; नन्दन की भगिनी मदयन्तिका को चाहता है। पिंजड़े से छूटे हुए शेर से अपनी प्रेयसी मदयन्तिका की रक्षा करता है। मकरन्द के चरित में सबसे अधिक जो गुण विकसित हुआ है वह माधव पर अलौकिक अकृत्रिक प्रेम है। मकरन्द माधव के बिना क्षण भर भी जीना नहीं चाहता। माधव मालती के विरह में मूर्च्छित होते हैं। उस समय मकरन्द के मनोगत भावों में माधव के प्रति अत्यधिक स्नेह प्रकट होता है। मकरन्द कहता है--

"तत् किन्तु खलु माधवास्तमयसाक्षिणा भाव्यम् ? इति जीवामि !" तो क्या मुझे माधव के मरण का साक्षी होना चाहिए ? मैं जीवित हूँ ! पर्वत-शिखर से पाटलावती नदी में

कूदना चाहता है, पुनः मूर्च्छित माधव का आलिंगन कर पुकारता है कि हा वयस्य, हा विमलविद्या-निधे, गुण-गुरो, हा माधव, यह मकरन्द की बाहु का अन्तिम आलिंगन है। मकरन्द तुम्हारे बिना क्षण भर जीवित रहेगा—ऐसा ख्याल न करना। हे पुण्ड-रीकमुख, मैं जन्म से तुम्हारा साथी रहा हूँ, यहाँ तक कि माता का दूध भी साथ ही साथ पिया है। अब बन्धु जनों से दिये हुए तर्पण-जल को अकेले पियागे ? यह अनुचित है।

आजन्मनः सह निवासितया मयैव
मातुः पयोधर-पयोऽपि समं निपीय;
त्वं पुण्डरीकमुख बन्धुतया निरस्त-
मेको निवापसलिलं पिबसीत्ययुक्तम्!

भगवति पाटलावति, प्रिय सुहृद् का जहाँ जन्म हो वहीं मेरा भी हो और मैं पुनः माधव का अनुचर होऊँ।

प्रियस्य सुहृदो यत्र मम तत्रैव सम्भवः,
भूयादमुत्र भूयोऽपि भूयासमनुसञ्चरः॥

अवान्तर चरितों की समीक्षा विस्तार-भय से नहीं की जाती है।

नाटकीय उत्कर्ष

नाटक का आख्यान-भाग ऐतिहासिक या पौराणिक वृत्त के आधार पर होता है। उसमें पाँच अङ्क से लेकर दस अङ्क तक होते हैं। प्रख्यातवंश का धीरोदात्त नायक होता है। एक रस प्रधान रहता है, अन्य रस गौण होते हैं। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य्य ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ नाटक के उद्देश्य की सिद्धि के लिए कारण-स्वरूप हैं। कार्य्य अर्थात् व्यापार-श्रृंखला की पाँच अवस्थाएँ होती हैं। इन्हीं अवस्थाओं के योग से मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण

(उपसंहार) सन्धियाँ होती हैं, जिनसे नाटक-रचना का विभाग होता है। नाटक में ३६ लक्षण और ३३ अलङ्कार होते हैं। प्रकरण भी नाटक के समान होता है। अन्तर इतना ही है कि नाटक का कथा-भाग पौराणिक या ऐतिहासिक के आधार पर होता है और प्रकरण का लौकिक वृत्त के आधार पर। शेष नाटक की भाँति होता है। मालती-माधव प्रकरण है। इसमें शृङ्गाररस मुख्य है; अन्य रस गौण हैं। माधव धीर शान्त नायक हैं।

मालती-माधव में अर्थ-प्रकृतियाँ

मालती-माधव के विवाह-स्वरूप उद्देश्य का साधक अन्योन्य अनुराग बीज[1] है। द्वितीय अङ्क में नन्दन के लिए मालती को देने का वर्णन है, जिससे कथा के अर्थ का विच्छेद होता है; पर माधव की दर्शनाभिलाषा (मालती के देखने की इच्छा) विच्छेद होने से बचाती है। इसलिए बिन्दु[2] है। मकरन्द और मदयन्तिका का विवाह आदि प्रासङ्गिक वृत्त पताका[3] है। मकरन्द पर राजा के सैनिकों का आक्रमण-रूप एकदेशीय वृत्त प्रकरी[4] है। मालती-रूप लाभ कार्य है[5]।

---

१ फल का मुख्य हेतु, जिससे अनेक कार्य उत्पन्न होकर फैलते हैं, 'बीज' कहलाता है।

२ कथा में अर्थ-विच्छेद होने पर जो अर्थ-विच्छेद से बचाता है उसे बिन्दु कहते हैं।

३ प्रसङ्ग प्राप्त (नायक के अतिरिक्त) अन्य पात्रों के वृत्त को 'पताका' कहते हैं।

४ एकदेशीय चरित को 'प्रकरी' कहते हैं।

५ जिसके लिए उपायों का आरम्भ किया जाता है और जिसकी सिद्धि के लिए सामग्री एकत्रित की जाती है उसे कार्य कहते हैं।

पाँच अवस्थाएँ

मालती-माधव में मालती और माधव के विवाह रूप फल-सिद्धि के लिए कामन्दकी का औत्सुक्य आरम्भ नामक अवस्था है। दोनों के समागम के लिए कामन्दकी का उद्योग यत्न नामक द्वितीय अवस्था है। नन्दन-विवाह के आयोजन से अपाय (विघ्न) की आशङ्का है । पर कामन्दकी के व्यापार से उपाय की भी सम्भावना है। अतः प्राप्त्याशा नामक तृतीय अवस्था है। पुनः कामन्दकी की असाधारण चेष्टा से सफलता का निश्चय है। अतः नियताप्ति नामक चतुर्थ अवस्था है। मालती माधव को मिल गई। इसलिए फलागम नामक पञ्चम अवस्था है।

पाँच संधियाँ

'मालती-माधव' में प्रथम अंक से लेकर द्वितीय अंक तक मुख-संधि[1] है। इन अंकों में प्रारम्भ नामक अवस्था (कामंदकी के औत्सुक्य) के साथ मालती और माधव के परस्पर अनुराग रूप बीज की उत्पत्ति हुई है। तृतीय अंक से लेकर चतुर्थ अंक तक प्रति-मुख संधि[2] है । इनमें कामन्दकी माधव के कामजनित विकारों का वर्णन करती है और लवंगिका कामंदकी से मालती की दयनीय दशा का वर्णन करती है जिससे परस्पर समागम रूप फल का प्रधान उपाय (अनुराग) दिखलाई पड़ता है; किन्तु नन्दन के विवाह से वह तिरोहित हो जाता है । पंचम अंक से

१—आरम्भ अवस्था के साथ जिसमें अनेक अर्थ और रसों की अभिव्यंजक बीज-समुत्पत्ति हो उसे मुख-संधि कहते हैं।

२—मुख सन्धि में रहनेवाले मुख्य उपाय का निदर्शन कहीं लक्ष्य रीति पर हो और कहीं अलक्ष्य रीति पर, उसे प्रतिमुख-संधि कहते हैं।

लेकर सप्तम अंक तक गर्भ संधि[1] है। इनमें विवाह रूप फल के प्रधान उपाय (अनुराग) का (हा तात! निष्करुण नरेन्द्र के चित्त की आराधना स्वरूप सामग्री मालती नष्ट हो रही है इससे) ह्रास है, तथा नेपथ्य में "ओ मालती के ढूँढ़नेवाले सैनिको" इसमें अन्वेषण है।

मालत्याः प्रथमावलोकनदिनादारभ्य विस्तारिणो
भूयः स्नेहविचेष्टितैर्मृगदृशो नीतस्य कोटिं पराम्।
अद्यान्तः खलु सर्वथास्य मदनायासप्रबन्धस्य मे
कल्याणं विदधातु वा भगवती नीतिर्विपर्येतु वा॥

इसमें उद्भेद है। अमात्य भगवती से कहते हैं कि "नन्दन के भेजे हुए आभूषण मालती को देवता के सामने पहनाना चाहिए"। इसमें पुनः ह्रास है।" मेरी सच्ची बहिन प्रिय सखी लवंगिका, तुम्हारी प्रिय सखी आज मरने के लिए तैयार है। बचपन से मेरा तुम्हारे ऊपर परम विश्वास रहा है। उसी विश्वास के अनुसार मैं तुम्हारे गले में बाँहें डालकर प्रार्थना करती हूँ कि मुझे माधव का मुखारविन्द दिखलाओ जो समग्र मांगलिकों से बढ़कर सौभाग्य-लक्ष्मी को देनेवाला है।" इसमें पुनः अन्वेषण है। अष्टम अंक से लेकर नवम अंक तक विमर्श-सन्धि[2] है; क्योंकि इनमें मालती-माधव के विवाह रूप मुख्य फल का परस्पर अनुराग-स्वरूप एकत्र स्थिति द्वारा गर्भ-संधि से अधिक

१—प्रथम उत्पन्न फल के उपाय का जहाँ उद्भेद हो तथा बारम्बार ह्रास और अन्वेषण हो, वहाँ गर्भ-सन्धि होती है।

२—मुख्य-फल का उपाय जहाँ गर्भसन्धि से अधिक विकसित हो, किन्तु वह शाप आदि से विघ्नयुक्त हो, उसे विमर्श-सन्धि कहते हैं।

विकसित हुआ है। दशम अंक में उपसंहार-सन्धि[१] है। यहाँ पर अनुराग रूप बीज के सहित मुख आदि संधियों का आयोजन मालती के लाभ के लिए किया गया है।

विस्तार-भय से लक्षण, नाट्यालङ्कार और संध्यंग नहीं दिखलाये जाते हैं।

ऊपर संस्कृत के अलङ्कार शास्त्रों का नियम-सामञ्जस्य दिखलाया गया है; किन्तु आधुनिक नाट्य-साहित्य के लेखकों ने नाटक के जिन विशिष्ट गुणों का उल्लेख किया है, प्रायः उनका भी समावेश 'मालती-माधव' में है। 'मालती-माधव' को बने हुए प्रायः हजार वर्ष से भी अधिक हुए हैं। रुचि और विचारों में महान् परिवर्तन हो गया, पर 'मालती-माधव' नवीन समालोचकों की कसौटी पर भी खरा उतरा है। वंग-वसुन्धरा भूषण स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय नाटक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक बतलाते हैं—घटना का ऐक्य, घटना की सार्थकता, घटनाओं की आघात-प्रतिघात गति, कवित्व, चरित्रचित्रण और स्वाभाविकता। "मालती-माधव" का आरम्भ प्रेम विषय को लेकर हुआ है और अन्त तक यही रहा है। नायक और नायिका का अन्योन्य अनुराग अंकुरित-पल्लवित और परिणत हुआ है। अतः इसमें घटना का ऐक्य है। 'मालती-माधव' में सम्पूर्ण चरित्र नायक और नायिका के प्रणय-विकास के लिए अवतरित हुए हैं जिनमें कुछ साधक और कुछ बाधक हैं। कामंदकी का उद्योग, लवंगिका की सहायता, सौदामिनी की रक्षा आदि समागम के साधक हैं। नन्दन का राजा के द्वारा मालती की याञ्चा कराना,

---

१—मुख आदि अर्थ जो इधर-उधर बिखरे हुए हैं, उनका एक प्रयोजन के हेतु आयोजन हो, वहाँ उपसंहार-सन्धि होती है।

नन्दन के विवाह का आयोजन, अघोरघण्ट का मालती की बलि का इरादा तथा कपालकुण्डला का अपहरण बाधक है।

इनमें से यदि कोई अंश पृथक् कर दिया जाय तो परिणाम यथार्थ रूप से वर्णित नहीं होगा, अतः घटना की सार्थकता भी है। मालती और माधव का प्रेम ज्यों ही परिणत होता है, त्यों ही नन्दन विवाह-रूप विघ्न आकर उपस्थित हो जाता है। इसके बाद मालती और माधव का जब विवाह होता है, तब मालती को कपालकुण्डला उड़ा ले जाती है। इस तरह 'मालती-माधव' में घात-प्रतिघात-गति भी है। चरित्र-चित्रण दिखलाया जा चुका है। कवित्व का वर्णन आगे किया जायगा।

'मालती-माधव' में घटना प्रायः स्वाभाविक ही है अतः कहा जा सकता है कि इसमें स्वाभाविकता भी है। पंचम अंक में पिशाचों का वर्णन और नवम अंक में सौदामिनी की 'आकर्षिणी-सिद्धि' का वर्णन है, जो आजकल के विचारों के अनुसार चाहे अस्वाभाविक हो, किन्तु जिस समय मालती-माधव लिखा गया था उस समय जनता का इन बातों पर विश्वास था। अतः अपने समय के विचारों का दिखलाना दूषण नहीं वरन् भूषण है। नाटक में अन्तर्द्वन्द्व प्रधान गुण होता है। नाटक के किसी पात्र के हृदय में परस्पर-विरोधिनी वृत्तियों के संघर्ष को अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं। 'मालती-माधव' में यह गुण प्रस्फुटित नहीं हुआ है। हाँ, एक जगह कुछ प्रस्फुटित अवश्य हुआ है। कामन्दकी मालती से विवाह के लिए अनुरोध करती है, तब वह "हा तात", 'हा अंब' कहती है जिससे अनुमान होता है कि उसके हृदय में अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हुआ कि विवाह करूँ या न करूँ! अगर नहीं करती हूँ तो नन्दन के साथ विवाह हुआ जाता है। किन्तु

शीघ्र ही वह विवाह कर लेना स्वीकार कर लेती है। अतः अंत-र्द्वन्द्व स्पष्ट नहीं हुआ है।

कवित्व-कौशल

कविता का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि ठीक ठीक आज तक उसकी परिभाषा नहीं हो सकी है। पर संस्कृत के सभी आचार्य प्रायः इस बात से सहमत हैं कि "रस-मयी कविता उत्कृष्ट कविता कहलाती है"। कविता के प्राणस्वरूप रस होते हैं। मालती-माधव में रस-चमत्कार अच्छा है। स्वयम् भवभूति अपने मुँह से कहते हैं कि मालती-माधव में रसों का अभिनय बाहुल्य से किया गया है "भूम्ना रसानां गहना प्रयोगाः"

पाठकों को कुछ शृङ्गार-रस के पदों का दिग्दर्शन कराया जाता है। भवभूति आलंबन विभाव-स्वरूप मालती का वर्णन करते हैं कि वह कुमारी सौन्दर्यनिधि की अधिष्ठात्री देवता है, या सौन्दर्य तत्त्व की निधि है। मालूम होता है कि उस सुन्दरी को स्वयम् रतिपति भगवान् ने चन्द्र, सुधा, मृणाल, ज्योत्स्ना आदि उपादानों से बनाया है (चन्द्र से मुख, सुधा से अधर, मृणाल से बाहु और ज्योत्स्ना से कान्ति बनाई है)। वेदाभ्यासी जड़ ब्रह्मा मालती ऐसी सुन्दरी कब बना सकता है?

सा रामणीयकनिधेरधिदेवता वा
सौंदर्य-सारसमुदायनिकेतनं वा;
तस्याः सखेः नियतमिन्दुसुधामृणाल-
ज्योत्स्नादिकारणमभून्मदनश्च वेधाः।

आगे चलकर मदन-व्यथा से व्यथित मालती का चित्र खींचते हैं। अंग मसले हुए मृणाल की तरह मलिन हो गये हैं। कपोल हाथीदाँत के टुकड़े की भाँति सफेद हो गये हैं तथा

निष्कलंक कलाधर की लक्ष्मी को धारण कर रहे हैं। वह सखियों के बड़े अनुरोध से शृंगार आदि करने में प्रवृत्त होती है।

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गम् प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदपाण्डुः कपोलः ।

दुर्बल अंगों की मृणाल से एवं श्वेत कपोलों की हाथी के दाँत से उपमा हृदय-ग्राहिणी है। उस पर निदर्शनालंकार द्वारा चन्द्र-लक्ष्मी का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव अपूर्व चमत्कार पैदा करता है।

पहले पहल जब मालती और माधव की चार आँखें होती हैं उस समय नेत्र व्यापारों का भवभूति इतना सजीव वर्णन करते हैं जिससे अनुमान होता है कि वे बड़े रसिक रहे होंगे। उनको स्वयम् ऐसी घटनाओं का अनुभव होगा। माधव मकरंद से कहते हैं कि मैं मालती के विविध दर्शनों का पात्र हुआ। मालती की विशाल दृष्टि मुझे पहले देखकर निश्चल हो गई, बाद को (मेरे अंगों को गौर से देखने के लिए) विकसित हुई। इससे भ्रूलताएँ उन्नत हो गईं। फिर अनुराग से चिक्कण और मुकुलित (अत्यन्त आनन्द के कारण) हो गईं। मेरे ताकने पर कुछ (लज्जावश) आकुञ्चित हो गईं (सिकुड़ गईं)।

स्तिमितविकसितानामुल्लसद् भ्रूलताना-
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम्;
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवम्पात्रमालोकितानाम् ।

फिर कहते हैं कि पक्ष्मलाक्षी (जिसके नेत्रों में बड़ी और घनी बरुनियाँ हैं) के कटाक्षों ने मेरे अशरण हृदय को लूट लिया

है, घायल किया है, निगल लिया है और उखाड़ लिया है। वे कटाक्ष अलस (लज्जा से लौटे हुए), वलित (पुनः देखने की इच्छा से तिरछे चलाये हुए), मुग्ध (देखने में सीधे और भावों से भरे हुए), निष्पंद (टकटकी लगाये हुए) और मंद थे।

अलसवलितमुग्धस्निग्धनिष्पन्दमन्दै-
रधिकविकसदन्तैर्विस्मयस्मेरतारैः;
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै-
रपहृतमपविद्धं पीतमुन्मीलितञ्च।

माधव की विरहानुभूति

कपालकुण्डला मालती को हर ले गई है, विरहविधुर माधव पागल हुए जाते हैं। कहते हैं कि चण्डि, मैं तुम्हारे विषय में अमंगल कल्पनाएँ करता हूँ और तुम्हें हँसी सूझती है। बस, बहुत हँसी हो गई। तुम प्रेम-परीक्षा कर रही हो। मैं तुमसे बहुत बार परीक्षित हो चुका। प्रिये! उत्तर दो। अन्दर ही अन्दर हृदय घूम रहा है। तुम बड़ी निर्दय हो।

किमयि किमयि शङ्के मंगलेभ्यो यदन्य-
द्विरमतु परिहासश्चण्डि! पर्युत्सुकोस्मि;
कलयसि कलितोऽहं वल्लभे देहि वाचं
भ्रमति हृदयमन्तर्विह्वलं निर्दयासि॥

फिर सोचते हैं कि इस जंगल में मालती के पास किसे दूत बनाकर भेज दूँ? मेघ की तरफ देखकर विचार करते हैं कि इसे ही दूत बनाकर भेजूँ। वेग से उठकर मेघ को हाथ जोड़ते हैं और कहते हैं कि सौम्य! क्या प्रिय सहचरी विद्युत् तुम्हारा आलिंगन करती है? (मेरी तरह तुम भी सहचरीशून्य तो नहीं हो?) क्या प्रेमी चातक प्रसन्नमुख होकर तुम्हारी सेवा

करते हैं ? (मेरी तरह मित्रशून्य तो नहीं हो, यद्यपि उनका मित्र मकरंद साथ है तथापि वह उन्माद-वश ऐसा कहते हैं) क्या प्राच्य-पवन (पुरवाइ) अंग-मर्दन से तुम्हें सुखी करती है ? (मेरी तरह तुम भी तो दासशून्य नहीं हो ?) क्या इन्द्रधनुष तुम्हारे सौन्दर्य को बढ़ाता है ! (मेरी तरह आभूषणशून्य तो नहीं हो ?)

कच्चित्सौम्य प्रियसहचरीविद्युदालिङ्गति त्वाम् ?
आविर्भूतप्रणयसुमुखाश्चातका वा भजन्ते ?
पौरस्त्यो वा सुखयति मरुत् साधुसंवाहनाभिः ?
विष्वग् बिभ्रत् सुरपतिधनुर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ?

भवभूति में भावुकता अधिक है। वह अपने पात्रों को विरहावस्था में मूर्च्छित और उन्मत्त बना देते हैं। विरह-वर्णन तो उन्हीं के हिस्से में है। यहाँ पर काम की आठवीं दशा (उन्माद) दिखलाई गई है।

माधव मेघ से संदेश कहते हैं कि भगवान् जीमूत ! सौभाग्यवश घूमते हुए आपको मेरी प्यारी मालती दिखलाई दे तो पहले आश्वासन देना; पुनः मेरी अवस्था का वर्णन करना। लेकिन, खबरदार ! संदेश कहते हुए आशातन्तु न तोड़ देना; क्योंकि केवल आशातन्तु ही किसी तरह उसके प्राणों की रक्षा करता है।

दैवात् पश्येर्जगति विचरन्निच्छया मत्प्रियां चेत्
आश्वास्यादौ तदनु कथये माधवीयामवस्थाम्;
आशातन्तुर्न च कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः।

फिर कहते हैं कि मेरी प्रिया कहीं नहीं होगी; क्योंकि वह लुट गई है। देखो, मेरी प्यारी की कान्ति नवीन लोध्र-कुसुमों में है, दृष्टि हरिणियों में है; गति गजों में और नम्रता लताओं में है।

नवेषु लोध्रप्रसवेषु कान्तिर्दृशः कुरङ्गीषु गतं गजेषु;
लतासु नम्रत्वमिति प्रमथ्य व्यक्तं विभक्ता विपिने प्रिया मे।

कभी कहते हैं कि मैं प्रिया को किससे पूछूँ। मेरा तो कोई सुनता ही नहीं। पता जानने के लिए मैं किससे प्रार्थना करूँ? देखो, अपनी पूँछ को छितराये नाचता हुआ नील-कंठ (मयूर) अपनी वाणी से मेरी वाणी रोक लेता है; चकोर, जिसकी आँखें मद से घूम रही हैं, अपनी कान्ता चकोरी के पीछे दौड़ रहा है और वानर फूलों की धूल से बानरी के गालों को रंग रहा है।

केकाभिर्नीलकण्ठस्तिरयति वचनं ताण्डवादुच्छिखण्डः
कान्तामन्तःप्रमोदादभिसरति मदभ्रान्ततारश्चकोरः
गोलाङ्गूलः कपोलं छुरयति रजसा कौसुमेन प्रियायाः
किं याचे यत्र तत्र ध्रुवमनवसरग्रस्त एवार्थिभावः।

उपर्युक्त भवभूति की कल्पनाओं को पढ़कर कवि शेक्सपियर की यह उक्ति "the lunatic, the lover and the poet are of imagination all compact" (पागल, कवि और प्रेमी इनकी कल्पनाएँ एकसी होती हैं) सत्य मालूम होती है। भवभूति ने 'मालती-माधव' में वीभत्स, भयानक, करुण आदि रसों का वर्णन कर अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। भवभूति हास्य रस का वर्णन अवश्य नहीं करते हैं। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में विदूषकों का स्थान नहीं रक्खा। सब रसों के उदाहरणों में लेख का कलेवर बहुत अधिक बढ़ जायगा। वीभत्स रस का एक उदाहरण लीजिए।

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथ भूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपीठाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा;
आर्तः पर्य्यस्तनेत्र-प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं रदपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति।

भूख से व्याकुल, इधर-उधर दृष्टि डालता हुआ, दाँतों को निकाले दीन पिशाच पहले मुर्दे की खाल को नोच-नोच कर शोथ-रोग से फूले कन्धे, नितम्ब, पीठ आदि अंगों के दुर्गन्धित मांस को खाता है। पुनः हड्डियों और ऊँचे-नीचे स्थान में लगे हुए मांस को जल्दी जल्दी खाता है।

प्राकृतिक दृश्य

संस्कृत साहित्य में प्रकृति का समादृत स्थान है। काव्यों और नाटकों में प्राकृतिक वर्णन अंग सा है, चाहे वह उद्दीपन विभाव में हो या स्वतन्त्र रूप में। भवभूति प्रकृति-पर्युपासक कवियों में अग्र-गण्य हैं। पाठकगण, भवभूति के प्राकृतिक वर्णन के भी नमूने देखिए। उद्धृत श्लोक में पद्मावती और सिन्धु नदी के प्रपात का कितना सुन्दर वर्णन है—

पद्मावतीविमलवारिविशालसिन्धु
पारा सरित् परिकरच्छलतो बिर्भात।
उत्तुङ्गसौधसुरमन्दिरगोपुराट्ट-
संघट्टपाटितविमुक्तमिवान्तरिक्षम् ॥

विशाल सिन्धु और पारा नदियों में निर्मल जल बह रहा है। उनसे पद्मावती नगरी घिरी हुई है। पद्मावती में राजगृह, देवमन्दिर, पुरद्वार और अट्टालिकाएँ इतनी बनी हुई हैं, मानों उनके संघर्ष से आकाश टूट कर गिर पड़ा है और नदियों के रूप में परिणत हो गया है।

यत्रत्य एष तुमुलो ध्वनिरम्बुगर्भ-
गम्भीरनूतनघनस्तनितप्रचण्डः।
पर्यन्तभूधरनिकुञ्जविजृम्भणेन
हेरम्बकण्ठरसितप्रतिमानमेति ।

यह सिन्धु नदी का प्रपात है, जिसमें जल से भरे हुए मेघों की गर्जन के समान ध्वनि हो रही है वह ध्वनि आस पास के पर्वत और कुञ्जों में गूँज रही है और वह प्रतिध्वनि से बढ़ कर गणपति की कण्ठ-ध्वनि के समान हो रही है।

नीचे दिये गये श्लोकों में पर्वत और दो नदियों के संगम के किनारे नहाई हुई स्त्रियों का वर्णन कितना सजीव है। हजारों वर्ष की घटना मूर्तिमती होकर सामने नाचने लगती है।

अयमभिनवमेघश्यामलोत्तुङ्गसानु-
र्मदमुखरमयूरीमुक्तसंसक्तकेकः,
शकुनिशवलनीडानोकहस्निग्धवर्ष्मा
वितरति बृहदश्मा पर्वतः प्रीतिमक्ष्णोः॥

उच्च शिखरवाला, नवीन मेघों से श्यामल, यह पवत क्या ही नेत्रों को आनन्द देता है, जिस पर मदमाती मयूरी कुहुक रही है; कहीं पत्थरों के ढेर लगे हुए हैं, कहीं रंग-विरंगे पक्षियों के घोंसलेवाले वृक्ष चितकबरे हो रहे हैं जिससे पवतीय भागों की अनुपम छटा दिखाई देती है।

जलनिविडितवस्त्रव्यक्तनिम्नोन्नताभिः
परिगततटभूमिः स्नानमात्रोत्थिताभिः,
रुचिरयुगलकुम्भश्रीमदाभोगतुङ्ग-
स्तनविनिहतहस्तस्वस्तिकाभिर्वधूभिः।

सिन्धु और पारा के संगम तट पर नहाकर आई हुई महिलाओं की भीड़ है, जिनके भीगे कपड़े ऐसे चिपक गये हैं कि उनमें अंगों की ऊँचाई और निचाई साफ झलक रही है। कमनीय काञ्चन कलश की भाँति विशाल और उन्नत स्तनों पर रक्खे हुए हाथ ऐसे शोभित हो रहे हैं मानों स्वस्तिक [स्वस्तिक-मङ्गल के

लिए स्त्रियाँ पीठे (चावल के चूर्ण से हाथ की छापें कलश आदि पर देती हैं उनको स्वस्तिक कहते हैं] हो। स्तनों पर रक्खे हुए गोरे गोरे हाथों की स्वस्तिक से उपमा कितनी चमत्कार-पूर्ण है, कवि की अनोखी सूझ है।

कालिदासीय रचना की अनुकृति

भवभूति कालिदास के परवर्ती हैं। इन दोनों कवियों के स्वभाव और रचना में आकाश-पाताल का अन्तर है। कालिदास सुकुमार-प्रकृति, सर्वप्रिय और हँसमुख रहे होंगे; पर भवभूति गम्भीर-प्रकृति-विशिष्ट जनप्रिय शोकमय मूर्ति रहे होंगे। कालिदास की प्रकृति में विनय है, भवभूति के स्वभाव में गर्व है। भवभूति की रचना क्लिष्ट है, कालिदास की सरल है। यद्यपि भवभूति कालिदास की सरणी से भिन्न मार्ग पर चलनेवाले हैं तथापि उन्होंने 'मालती-माधव' में कालिदास की रचना का अनुकरण किया है। मालती-माधव और अभिज्ञान शाकुन्तल में घटना-सादृश्य है और कहीं कहीं कालिदास के भावों का अपहरण किया गया है।

घटना-सादृश्य

शकुन्तला अपने अभिभावक महर्षि कण्व की विना आज्ञा के गान्धर्व विवाह कर लेती है। इसी तरह मालती भी अपने माँ-बाप के विना पूछे विवाह कर लेती है। अन्तर इतना ही है कि शकुन्तला केवल दुष्यन्त के प्रस्ताव से ही विवाह कर लेती है; पर मालती अपनी माँ जैसी बड़ी-बूढ़ी कामंदकी के कहने पर करती है। शकुन्तला की अपेक्षा मालती का चरित्र अवश्य कुछ उन्नत हो गया है; पर भवभूति की इसमें कोई तारीफ नहीं है।

क्योंकि शकुन्तला का उपाख्यान भाग पौराणिक है और 'मालती-माधव' का काल्पनिक है। "अभिज्ञान-शाकुन्तल" में कण्व शकुन्तला को उपदेश देते हैं--"शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रिय सखीवृत्ति सपत्नीजने, भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपंगमः"। इसी प्रकार कामंदकी मालती को उपदेश करती है कि--"प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा, सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं च, स्त्रीणां भर्ता"--अर्थात् पति स्त्रियों का प्रियतम होता है। वही बन्धुसमूह, वही मनोरथ, वही निधि और अधिक क्या कहें, वही जीवन भी होता है।

भावापहरण

भवभूति ने प्रथम अंक में "सा रमणीयकनिधे" इस पद्य द्वारा मालती के सौंदर्य का वर्णन किया है। उसमें यह कल्पना की है कि मालती ब्रह्मा की कृति नहीं है; किन्तु स्वयं काम ने चन्द्र आदि उपकरण से बनाई है। वस्तुतः यह भवभूति के मस्तिष्क की उपज नहीं है। भवभूति ने इसे विक्रमोर्वशी के निम्नलिखित छंद से अपहरण किया है—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रोनुकान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः;
वेदाभ्यासजड़ः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।

भवभूति ने माधव द्वारा मेघ के प्रति जो संदेश दिलवाया है कि—"आशातन्तुर्न च कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः, प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः।" यह भी मेघदूत के पद्य का भाव है। यक्ष मेघ से कहता है "आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां, सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।" महिलाओं

की आशा कुसुम वृन्त के समान होती है, जैसे कुसुम-वृन्त कुसुम की पखुरियों को रोके रहता है उसी तरह वियोग में आशा ही उनके प्रेम-युक्त हृदय की रक्षा करती है अन्यथा वह विदीर्ण हो जावे। भवभूति ने वृन्त के स्थान पर तन्तु को बदल दिया है। पर कालिदास की उक्ति में जो भाव-सौंदर्य और सौकुमार्य है वह भवभूति नहीं ला सके हैं।

नवेषु लोध्रप्रसवेषु कान्तिर्दृशः कुरङ्गीषु गतं गजेषु,
लतासु नम्रत्वमिति प्रमृश्य व्यक्तं विभक्ता विपिने प्रिया मे।

भवभूति का यह पद्य भी कालिदास के—'कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्। पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमः'' (अज विलाप करते हैं कि स्वर्ग जाने के लिए इन्दुमती मेरे विनोद के लिए अपना भाषण कोकिलाओं में, गमन हंसियों में, चञ्चल कटाक्ष हरिणियों में और विभ्रम पवन-कम्पित लताओं में रख गई है) पद्य का रूपान्तर है। भवभूति ने भाषण को बदल कर कान्ति और कलहंसी को बदल कर गज कर दिया है। हाँ, विभ्रम के स्थान पर नम्रता कर दी है जो विभ्रम की अपेक्षा मनोहर नहीं है। दर-असल भवभूति अपहरण में पूर्व भावों की अपेक्षा अधिक चमत्कार नहीं दिखला सके हैं। भवभूति अपहरण में सर्वथा असफल रहे हैं।

भाषा

कविता-कामिनी के प्राण यदि भाव हैं तो भाषा शरीर होता है। अतः काव्य-विवेचन में भाषा के विचार की भी आवश्यकता होती है। उच्च कोटि की कविता वही है जिसमें भाव और भाषा दोनों रमणीय हों। सुन्दर भाषा वही है जो अलंकृत हो, मुहाविरेदार और मँजी हुई हो और भावों का अनुसरण करती हो। भवभूति

का संस्कृत और प्राकृत दोनों पर समान अधिकार है। भावों को प्रकट करने की क्षमता उनकी भाषा में पर्याप्त है। भवभूति की भाषा भावानुगामिनी होती है। निम्नलिखित व्याघ्र-वर्णन में प्राकृत-भाषा का मुलाहिज़ा कीजिए। देखिए भाषा कितनी ओजस्विनी और आडम्बरयुक्त है--"रे रे शंकरपुरवासिजाणवदा! एसो क्खु जोव्वणारम्भगव्वसम्भरि ददुव्विसहा मरिसरो सव्वदि अरवलामोडि विहड़ दुग्गाड़ि-लोहपंजरपड़िनग्ग सगंलिअ--णिअलो दुट्ठसद्दूलो × × ×कुविअ कि अन्त-लीलाइदं करोदि" और इसी रंग में श्मशानवाले 'उत्कृत्योत्कृत्य' संस्कृत पद्य को भी देखिए। इसमें वाच्यार्थ विकट है, तदनुसार भाषा भी कैसी उद्धत है। पर नीचे दिये छंद में करुण रस के वर्णन में भाषा कैसी प्राञ्जल और कोमल हो गई है—

न्यस्तालक्तकरक्तमाल्यवसना पाषण्डचाण्डलयोः।
पापारम्भवतोर्मृगीव वृकयोर्भीरुर्गता गोचरम्।
सेयं भूरिवसोर्वसोरिव सुता मृत्योर्मुखे वर्तते
हा धिक् कष्टमनिष्टमस्तकरुणः कोऽयं विधेः प्रक्रमः॥

(वसु-सुता के समान भुरिवसु की कन्या मालती जो लाल कपड़े पहने है और जिसके हाथ-पैरों में महावर लगा हुआ है) पापी चाण्डाल अघोरघण्ट और कपालकुण्डला के बीच में ऐसी डरी हुई है जैसे दो भेड़ियों के बीच में हरिणी। हा! अब वह साक्षात् मृत्यु के मुँह में वर्तमान है। हा धिक्कार है, निर्दय दैव का आरम्भ कितना दारुण है।

अरे शंकरपुर के रहनेवालो, यह देखो दुष्ट शार्दूल यमराज की लीला कर रहा है। योवन-सुलभ अमर्ष और लोभ के कारण

उसने जबर्दस्ती लोहे के पिंजड़े को तोड़ डाला है। उसके पैरों से जंजीर भी निकल गई है, इत्यादि।

अनुपास भी भाषा की सम्पत्ति है। भवभूति की भाषा अनुप्रासों से बड़ी मधुर हो जाती है। इस गद्यांश में देखिए कितना माधुर्य है--अथ ताः सलोलमुत्तालकरकमलललितताविकातरलवलयावलीकम् उत्तस्तमत्तकलहंसविभ्रमाभिरामचरणमञ्चरणझणझणायमानमञ्जीरमञ्जुशिञ्जितानुविद्धमेखलाकलापकिङ्किणीरणत्कारमुखरंप्रीति निवृत्य........आख्यातवत्यः"। भवभूति की भाषा में श्लेष-चमत्कार कहीं कहीं है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित गद्य भाग देखिए। भवभूति ने श्लेष द्वारा कितनी उत्कृष्ट भाषा लिखी है--महाभाग! सुश्लिष्टगुणतया रमणीय एष वः सुमनसां सन्निवेशः। कुतूहलिनी च नो भर्तृदारिकाऽस्मिन् वर्तते। तस्यामभिनवो विचित्रः कुसुमेषुव्यापारः। तद्भवतु कृतार्थता वैदग्ध्यस्य फलतु निर्माणरमणीयता विधातुः। आसादयतु सरस एष भर्तृदारिकायाः कण्ठावलम्बनमहार्घतामिति। (लवंगिका माधव से बकुलमाला माँगती है) कहती है कि महाभाग! आपका कुसुम ग्रन्थन (बकुलहार का गुहना) बड़ा ही मनोहर है। कैसा सूत पिरोया है। मेरी स्वामिकन्या इस हार को लेना चाहती है। वह फूलों को तरह तरह से गूँथना जानती है। (हार देने से) तुम्हारा शिल्पनैपुण्य भी चरितार्थ होगा (गुणी में गुण-प्रकाशन से गुण की चरितार्थता होती है) और माल्यसौन्दर्य भी रत्न और काञ्चन के योग की भाँति फलीभूत होगा। ताजा फूलों का हार स्वामिकन्या के गले में पड़कर महार्घ (कीमती) हो जावेगा। दूसरा अर्थ यह है कि महाभाग, सुन्दर हृदयवाले आप लोगों का परस्पर प्रेम है, क्योंकि दोनों में रूप, लावण्य आदि गुण विद्यमान हैं। ऐसी लगावट के लिए मेरी स्वामिकन्या लालायित है। उसमें विचित्र

नवीन कुसुम-सायक का व्यापार प्रादुर्भूत हो रहा है। इसलिए आप लोगों का कला-चातुर्य सार्थक हो और ब्रह्मा का रचना-सौंदर्य भी (योग्य समागम से) सफल हो। रसिक आप भी हो, उसके कण्ठालिगन से महार्घ बनिये (अन्य स्त्रियों को दुर्लभ होने से अमूल्य बनिये)।

'मालती-माधव' और तत्कालीन समाज

पाठकगण! 'मालती-माधव' को हम साहित्यिक दृष्टि से देख चुके। किन्तु उसका ऐतिहासिक निरीक्षण किया जाय तो उसमें तत्कालीन सामाजिक-जीवन और परिस्थिति का भी चित्र मौजूद है। कवि अपने समकालीन समाज का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचनाएँ उसके समय का प्रतिबिम्ब दिखाने में दर्पण का काम कर देती हैं। 'मालती-माधव' जिस समय लिखा गया था, उस समय हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान हुआ था; पर बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म में समन्वय हो चुका था। उदार हिन्दू-धर्म ने बुद्ध भगवान् की गणना दशावतारों में कर ली थी। भवभूति ने बौद्ध धर्मावलम्बिनी कामन्दकी और बुद्धरक्षिता को नायक पक्षीय पात्र बनाया है और उनका उज्ज्वल चरित्र अंकित किया है जिससे स्वयम् कवि का बौद्ध धर्म के प्रति आदर प्रकट होता है। कवि ने कामंदकी के चरित्र में यह भी दिखलाया है कि यद्यपि वह बौद्ध-धर्मावलम्बिनी है तथापि उसका आर्य शास्त्रों में पर्याप्त आदर है। वैवाहिक व्यवस्था में वह महर्षि अंगिरा का प्रमाण देती है—"गीतश्चायमर्थोऽङ्गिरसा यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिरति"। अतः स्पष्ट है कि उभय-धर्मावलम्बी एक दूसरे के धर्म का आदर करते थे। बौद्ध धर्म निवृत्तिप्रधान है। अतः उस समय अनेक

युवा पुरुष और युवती स्त्रियाँ बिना वैराग्य के परिपक्व हुए ही विरक्त हो जाती थीं, पर प्रवृत्तियों का सहसा विघात नहीं हो सकता। इसलिए बौद्ध-संघारामों में गुप्त व्यभिचार हुआ करते थे। कवि ने यह बात 'मालती-माधव' में माधव के सेवक कलहंस का बौद्ध-मठ-परिचारिका मंदारिका के साथ अवैध प्रणय का वर्णन कर सूचित किया है। भवभूति के समय में कामदेव की पूजा होती थी। कामदेव के मन्दिर बने थे। वसन्त में मदनोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था, जिसमें स्त्री-पुरुष सभी सम्मिलित होते थे। स्त्रियों में परदे का रिवाज नहीं रहा होगा। श्रीमानों की कन्याएँ सवारियों पर निकलती थीं। मालती हथिनी पर चढ़ कर 'कामायतन' को गई थी। प्राचीन भारत के गुरुकुलों की भाँति शिक्षाप्रणाली नहीं थी। आजकल की तरह चञ्चल और दूषित वातावरण में ही विद्यार्थी शिक्षण पाते थे। नगर के वायुमण्डल में युवकों का नारियों के प्रेम में फँस जाना स्वाभाविक ही था। भवभूति ने मालती और माधव के प्रेम का वर्णन कर यह भी अभिव्यक्त किया है। पद्मावती उस समय समृद्धिशाली नगरी थी।

'मालती-माधव' के उद्धृत पद्य से नागरिकों की विलासिता का परिचय मिलता है।

प्रासादानामुपरि वलभीतुंगवातायनेषु
भ्रान्त्वावृत्तः परिणतसुरागन्धसंस्कारमार्गः;
माल्यामोदामुहुरुपचितस्फीतकर्पूरवासः
वायुर्यूनामभिमतवधूसन्निधानं व्यनक्ति।

अटारी और झरोखों में घूम घूम कर आया हुआ पवन, जिसमें सुरा, माल्य और कर्पूर की गन्ध आ रही है, इस बात की सूचना दे रहा है कि विलासी तरुण अपनी अभिलषित रमणियों

के पास पहुँच गये हैं। उस समय की जनता का मंत्र-तंत्र पर विश्वास था। भूत-प्रेत भी माने जाते थे। देवताओं को बलि चढ़ाई जाती थी, यहाँ तक कि नरमांस की बलि देने का भी वर्णन है, पर नारी बलिदान कुत्सित माना जाता था। उस समय चित्रकला, कविता आदि ललित कलाओं की विशेष उन्नति थी।

दोष

'मालती-माधव' में जहाँ अनेक गुण हैं, वहाँ दोष भी हैं, जो आँखों में खटकते हैं। सब से स्थूल दोष उनकी रचना में यह है कि वह लम्बे लम्बे समासों और दुरूह शब्दों की भरमार करते हैं, जो सर्वथा नाटकीय रचना के प्रतिकूल और कुशाच-पूर्ण है, और जिससे सहृदय सामाजिकों का हृदयशोष ही होता है। यह दोष मालती-माधव में सर्वत्र न्यूनाधिक रूप से विद्यमान है। भवभूति की समासप्रियता पर विस्मय होता है कि वह विरहावस्था में भी समास राशि का प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी रचना में पदगत, वाक्यगत (अविमृष्ट विधेयांश) आदि भी दोष हैं।

८—राजशेखर और काव्यमीमांसा

संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के साहित्य-सेवियों में कौन ऐसा है, जिसने कविराज राजशेखर का नाम न सुना हो, उनके दृश्य तथा अन्य काव्यों को न पढ़ा हो ? काव्यजगत् में इनका अत्यन्त उच्च-स्थान है। यह महाराज कान्यकुब्जाधिपति महेन्द्रपाल तथा उनके पुत्र महीपाल के सभासद् थे। 'उपाध्याय' इनकी पदवी थी। सायदोनी के शिलालेख से विदित होता है कि महेन्द्रपाल का राजत्वकाल ९०७ और महीपाल का ९१७ इसवी है। इन्होंने काव्य-मीमांसा में (अर्थापहरण-प्रकरण में) काश्मीर के महाराज जयापीड के सभासद् वाक्पतिराज का उल्लेख किया है। उक्त महाराज का शासन-काल ७७९ से ८१३ ई० तक है। सोमदेव ने यशस्तिलक-चम्पू में राज-शेखर का वर्णन किया है। यशस्तिलक चम्पू की रचना ९६० ई० में हुई है। अतः कल्पना होती है कि राजशेखर का समय ८८० और ९२० ई० के बीच में रहा होगा। राजशेखर के पिता का नाम दौर्दुकि और माता का नाम शीलवती था। अकालजलद, सुरानन्द और तरल इनके पूर्वजों में से थे। इनकी स्त्री का नाम अवन्ति-सुन्दरी था। यह परम-विदुषी और चौहान कुल* की लड़की थी।

स्वयं राज-शेखर ने स्थान स्थान पर इसका मत लिखा है। राजशेखर की जाति में सन्देह है, क्योंकि उपाध्याय की पदवी से

---

*"चाहुआणकुलमौलिमालिआ राजसेहरक इन्दगेहिणी"
(कर्पूरमञ्जरी)

तो यह ब्राह्मण प्रतीत होते हैं पर स्त्री के क्षत्रिय-कन्या होने से इनके क्षत्रिय होने का संदेह होता है। बहुत सम्भव है कि यह ब्राह्मण ही हों और अवन्ति-सुन्दरी जैसी विदुषी के गुणों पर लुब्ध हो, पण्डितराज जगन्नाथ की भाँति, इन्होंने भी असवर्ण विवाह कर लिया हो। क्षेमेन्द्र विरचित 'औचित्य-विचार-चर्चा' के एक पद्य*से ज्ञात होता है कि इनकी जन्म-भूमि दक्षिण-भारत में थी। बालरामायण में राज-शेखर ने अपने परदादा अकाल-जलद को महाराष्ट्र-चूड़ामणि लिखा है। इसलिए इनका महाराष्ट्र होना सिद्ध ही है। राज-शेखर को संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत-भाषा पर विशेष प्रेम था। एक जगह आप लिखते हैं---

"परुसा सक्कअवन्धा पाउअबन्धोवि होइ सुउभारो ।
पुरिसमहिलाएँ जेत्ति अभिहन्तरं तेत्तिअभिमाणम् ।

अर्थात् संस्कृत की रचना कठोर और प्राकृत की सुकुमार होती है। इन दोनों में उतना ही अन्तर है, जितना पुरुष और महिलाओं में।

राज-शेखर का नाम प्राकृत-भाषा के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से अङ्कित रहेगा। इन्होंने प्राकृत-साहित्य की बड़ी सेवा की है। इनसे प्रथम प्रायः अनुष्टुप्, आर्य्या आदि छोटे-छोटे छन्दों की रचना की ही प्रणाली थी। इन्होंने ही शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े बड़े वृत्तों की रचना कर प्राकृत में नवीनता उत्पन्न की। इनके

---

* कार्णाटीदशनाङ्कितः शित-महाराष्ट्रीकटाक्षाहतः
प्रौढान्ध्रीस्तन-पीडितः प्रणयिनीभ्रू-भङ्गवित्रासितः
लाटीबाहुनिवेष्टितः मलयजस्त्रीतर्जनीतर्जितः
सोऽयं सम्प्रति राज-शेखरकविर्वाराणसीं वाञ्छति।
'औ०वि० चर्चा'

बनाये बाल-रामायण, बाल-भारत, विद्धशालभञ्जिका, कर्पूरमञ्जरी और काव्य-मीमांसा आदि ग्रन्थ हैं। यद्यपि कवित्व की दृष्टि से इनके सभी ग्रन्थ महत्त्व के हैं, पर काव्यमीमांसा संस्कृत-साहित्य के लक्षण-ग्रन्थों में अपूर्व रत्न है। इसमें केवल काव्य-विषयक निबन्धों का ही वर्णन नहीं, किन्तु प्राचीन-भारत का भौगोलिक वृत्त, भिन्न-भिन्न प्रान्तों के रहनेवालों का उच्चारण, तत्कालीन कवियों की समृद्ध दशा और साहित्य प्रेम, प्राचीन साहित्यिक राजाओं का इतिवृत, स्त्रीशिक्षा आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों का समावेश है, जिनका कुछ परिचय नीचे दिया जाता है।

काव्य-मीमांसा की रचना की रीति वात्स्यायन के कामसूत्र तथा कौटिल्य-प्रणीत अर्थ-शास्त्र की तरह गद्य में ही है। यह अठारह अधिकरणों में विभक्त है। अठारह अधिकरण एक पौराणिक आख्यायिका के आधार पर बने हैं, जिसका उल्लेख इस प्रकार है—श्रीकंठ ने परमेष्ठी और ६४ शिष्यों को शिक्षा दी। उन ६४ शिष्यों में सरस्वती का पुत्र 'काव्य-पुरुष' अत्यन्त श्रेष्ठ तथा देवताओं का वन्द्य हुआ। प्रजापति ने उसे तीनों लोकों की कल्याण-कामना से काव्य प्रवर्तना के लिए नियुक्त किया काव्य-पुरुष ने १८ शिष्यों को अट्ठारह विषय पढ़ाये। काव्य-मीमांसा में उन्हीं विषयों पर अट्ठारह अधिकरण हैं।

भारतीय काव्य-रचना का प्रथम श्रेय महाकवि वाल्मीकि को है। वह काव्य-शास्त्र के प्रवर्तक तथा आदिकवि कहलाते हैं। रामायण में ही लिखा है कि वह एक बार मध्याह्न के समय तमसा-नदी पर स्नानार्थ जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक क्रौञ्च-मिथुन (कुलंग पक्षी के जोड़े) को देखा। उस समय एक व्याध ने उनमें से एक को बाण से मार डाला। यह दुर्घटना देखकर

ऋषि का कोमल हृदय करुणा से द्रवित हो गया और एकाएक उनके मुख से--

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काम-मोहितम् ।"

यह पद्य निकल पड़ा । अपने मुख से इस अनुष्टुप् के सहसा निकलने पर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । इतने में देव-देव ब्रह्माजी आये और बोले—"मेरे ही प्रभाव से तुम्हारे हृदय में कवित्व-शक्ति जाग्रत हुई है । अब तुम्हें पद्यात्मक रामचरित का प्रणयन करना चाहिए" यह कहकर वह अन्तर्हित हो गये । महाकवि भवभूति ने भी उत्तर-चरित में ऐसा ही उल्लेख किया है । पर राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में पद्य रचना का प्राथमिक आवि-ष्कार काव्य-पुरुष के द्वारा इस प्रकार लिखा है--सरस्वती देवी हिमालय पर पुत्र-प्राप्ति के लिए तप कर रही थीं । ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर सरस्वती से कहा--"मैं तुम्हारे लिए अभी एक पुत्र उत्पन्न करता हूँ ।" उसी समय एक दिव्य बालक प्रकट हुआ और उसने तत्काल निम्नलिखित पद्य के द्वारा सरस्वती की स्तुति की—

"यदेतद्वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या प्रवर्तते,
सोऽस्मि काव्य-पुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ" ।

अर्थात् यह जो वाङ्मय विश्व अर्थ-रूप में परिणत होता है, माता, वही मैं काव्य-पुरुष तुम्हारे चरणों की वन्दना करता हूँ ।

सरस्वती ने प्रसन्न होकर उसे गोद में उठा लिया और कहा—हे छन्दोमयी वाणी के बनानेवाले पुत्र ! तूने मुझ वाङ्मयी माता को भी हरा दिया । लोग यह बहुत ठीक कहते हैं कि--"पुत्रा-त्पराजयो द्वितीयं 'पुत्रजन्म' अर्थात् अपने पुत्र से हारना मानो

दूसरे पुत्र का जन्म होता है। तुमसे पहले वेदों को छोड़कर विद्वानों ने गद्य देखा था; पद्य नहीं।" प्राचीन आर्य्य ऋषियों के मस्तिष्क आधिदैविक विज्ञान से परिपूर्ण थे। वे प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में अधिष्ठात्री देवता की प्रतिकृति देखते थे। वेदों में सूर्य को ब्रह्मा, उषा को सरस्वती, रात्रि को अहल्या, तथा सूर्य को इन्द्र माना है। पौराणिकों ने उन भावों को आख्यान के रूप में विकसित किया है। वैदिक साहित्य ही नहीं किन्तु लौकिक साहित्य भी इन्हीं भावों से ओतप्रोत है। मालूम होता है कि राजशेखर ने तदनुसार काव्य को पुरुष रूप में माना और आख्यान रूप में उसका वर्णन किया है। काव्य-पुरुष के समर्थन में ऋग्वेद का यह मंत्र भी उद्धृत किया है –

चत्वारि शृंगास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽ
*त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यांऽआविवेश।**

राजशेखर ने इस मंत्र की व्याख्या नहीं की, पर नाट्य-शास्त्र के आचार्य भरत मुनि ने इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है कि साहित्य-रूप वृषभ मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ। उसके चार वर्ण चार सींग, तीनों स्थान (उरःस्थल, कण्ठ और शिर) तीन पैर, दो प्रकार के (साकाङ्क्ष और निराकाङ्क्ष) काकु सिर और सातों स्वर हस्त हैं।

काव्य-मीमांसा में राज-शेखर ने लिखा है—काव्य-रचना में तब प्रवृत्त हो, जब काव्य-विद्या में भली भाँति योग्यता प्राप्त

---

* यह मन्त्र केवल साहित्य-शास्त्र पर ही नहीं घटित होता, यास्क ने निरुक्त में इस मन्त्र की यज्ञ-परक और पतञ्जलि ने महा भाष्य में शब्द-परक व्याख्या की है।

कर ले। नाम-धातु, अभिधानकोष, छन्दोविचिति, अलङ्कार-तन्त्र—ये काव्यविद्याएँ तथा ६४ कलाएँ और देशवार्ता, विदग्ध-वाद, लोक-यात्रा, विद्वद्गोष्ठी, प्राचीन-कविनिबन्ध य उपा-विद्याएँ कहलाती हैं।

"स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्ति विंद्वत्कथा बहुश्रुतता;
स्मृति दार्ढ्यमनिर्वंदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य।"

स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति, दृढ़ता, अनिर्वेद (न ऊबना) ये आठ बातें कवित्व की जनना हैं।

कवि को नित्य शुचि रहना चाहिए। शौच तीन प्रकार का होता है--वाक्शौच; मनःशौच और काम-शौच। वाक्शौच और मनःशौच शास्त्र के अनुशीलन से होता है। काम-शौच के लिए कवि को चाहिए कि वह सदा हजामत बनवाये रहे; हाथ-पैरों के नाखून न बढ़ने दे; शरीर में अङ्गराग-लेपन किये रहे; कीमती और स्वच्छ वस्त्र पहने; बालों में फूल लगावे। कवि का जैसा स्वभाव होता है, उसका काव्य भी तदनुरूप होता है। लोक में कहावत है--"जैसा चितेरा वैसा चित्र।" कवि और काव्य पर भी यही कहावत चरितार्थ होती है। कवि का भवन खूब स्वच्छ होना चाहिए। उसमें अनेक लताओं और वृक्षों से व्याप्त ऐसा उपवन हो जिसमें छहों ऋतुओं के कुसुम खिल रहे हों। उपवन में सरोवर, क्रीड़ा-शैल, धारा-गृह, कुञ्ज और निकुञ्ज तथा दोला आदि बने हों; चकोर, क्रौञ्च, शुक, मयूर आदि पक्षी पले हों। कवि को पहिले सोच लेना चाहिए कि मेरा कैसा संस्कार है, किस भाषा पर मेरा पूर्ण अधिकार है, समाज की रुचि कैसी है और किस विषय में मेरा जी लगता है—इन बातों को खूब विचार कर फिर किसी भाषा का आश्रय लेना चाहिए। पर यह

नियम एक-देशी कवि के लिए है। जो स्वतन्त्र कवि हैं, उनके लिए सभी भाषाएँ एक सी ही हैं।

कवि को अपने समीप सदा एक सन्दूक, एक स्याह तख्ता, खरिया मिट्टी, ताड़पत्र, भूर्जपत्र और कलम-दावात रखनी चाहिए। समीप ही लौह-कण्टक सहित तालपत्र तथा सम्मृष्ट (चिकनी) भित्तियाँ होनी चाहिएँ। ❋

दशमाध्याय की राज-चर्या में वह लिखते हैं कि राजा को अवश्य कवि होना चाहिए। राजा के कवि होने पर काव्य-शास्त्र को खासी उत्तेजना मिलती है। राजा को काव्य-परीक्षार्थ साहित्य-परिषद् करनी चाहिए। सभा-भवन जो काव्य-परीक्षा के लिए बनाया जाय, वह राजा के केलिगृह से मिला हो। उसमें १६ स्तम्भ (खंभे), चार द्वार और आठ मत्तवारणी हों। सभा के मध्य में चार खंभों के बीच, हाथ भर मणिमय वेदी बनानी चाहिए। उसी पर राजा को बैठना चाहिए। वेदी के उत्तर ओर संस्कृत-कवियों को और उनके पीछे मीमांसक, पौराणिक, स्मार्त, भिषक तथा ज्योतिषियों को बिठलाना चाहिए। इसी तरह पूर्व-दिशा में प्राकृत के कवियों को और उनके पीछे नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव आदि को बिठलाना चाहिए। पश्चिम दिशा में अपभ्रंश के कवियों को और उनके पीछे चित्रकार, माणिक्यबन्धक (मणि जड़नेवाले) स्वर्णकार, बढ़ई, लुहार आदि शिल्पियों को स्थान देना उचित

❋ तस्य सम्पुटिका सफलखरिका, समुद्गकः, सलेखनीमषी-भाजनानि ताडपत्राणि भूर्जत्वचो वा, सलोहकण्टकानि ताल-दलानि, सुसम्मृष्टा भित्तयः सततसन्निहिताः स्युः (काव्यमीमांसा, दशम अध्याय)

है। दक्षिण दिशा में पैशाची-भाषा के कवियों को और उनके बाद भुजंग (वेश्यगामी), गणिका, बाजीगर, मल्ल तथा आयुध-जीवी (सैनिक) आदि को आसन देना चाहिए। सबके यथास्थान बैठ जाने पर काव्य-चर्चा होनी चाहिए। कवियों का आदर करने में राजा को वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक एवं साहसाङ्क के चरित्र का अनुकरण करना चाहिए। परीक्षोत्तीर्ण कवियों को ब्रह्मरथ पर चढ़ाना और उनका पट्ट-बन्धन करना चाहिए। राजशेखर लिखते हैं--

"श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकार-परीक्षा=इह कालिदास-मेण्ठावत्रामररूपस्वसूरभारवयः, हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्।

अर्थात् उज्जयिनी में कालिदास, मेण्ठ,[1] अमररूप, सूरि, भारवि, हरिचन्द्र[2] और चन्द्रगुप्त की परीक्षा हुई थी।

"श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः; वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिता ख्यातिमुपजग्मुः।"

---

१ मेण्ठ भर्तृमेण्ठ का संक्षिप्त रूप है। भर्तृमेण्ठ ने हय-ग्रीववध नामक महाकाव्य बनाया है।

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः॥

मेण्ठराज की वक्रोक्तियाँ अङ्कुश के समान हैं, जिनकी चोट खाकर कवि-कुञ्जर मानो शिर हिलाते हैं।

२ महाकवि हरिचन्द्र की प्रशंसा बाण-भट्ट ने हर्ष-चरित्र में की है—

पदबन्धोज्ज्वलोहरिकृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते।

अर्थात् सुना जाता है, किसी समय पाटलिपुत्र (पटना) शास्त्रकारों की परीक्षा के लिए बहुत प्रसिद्ध था। यहीं उपवर्ष (पाणिनि के गुरु), वर्ष, पाणिनि (अष्टाध्यायी के रचयिता), पिङ्गल (छन्दःशास्त्र के प्रवर्तक), व्याडि (लक्षश्लोकात्मक संग्रह ग्रन्थ के कर्ता), वररुचि (वार्तिककार) और पतञ्जलि(महाभाष्यकार) की परीक्षा ली गई थी और यहाँ से परीक्षित हो उनका यश संसार में फैला।

कवि राजा को अपने अन्तःपुर में भाषा का नियम अवश्य करना चाहिए। नियमित भाषा होने से उसका सौष्ठव भली भाँति रक्षित रहता है। राजशेखर इस विषय में कुछ साहित्यिक राजाओं का इतिहास बतलाते हैं। यथा—मगध-देश में शिशुनाग नामक राजा ने अपने अन्तःपुर में नियम किया था कि ट, ठ, ड, ढ, श, ष, ह, और क्ष का कोई उच्चारण न करे। शूरसेन देश के राजा कुविन्द के अन्तःपुर में कठोर और संयुक्त अक्षर कोई बोलने नहीं पाता था। कुन्तल देश के राजा सातवाहन के रनिवास में प्राकृत भाषा और उज्जयिनी के महाराज साहसाङ्क[1] (विक्रमादित्य) के यहाँ संस्कृत-भाषा ही बोली जाती थी।

काव्य-मीमांसा के १७वें अधिकरण में प्राचीन आर्यावर्त का भौगोलिक वर्णन है। पूर्व और पश्चिम-समुद्र के तथा हिमालय और विन्ध्यपर्वत के मध्य को आर्यावर्त कहते हैं। आर्यावर्त को पाँच देशों में विभक्त किया है। वे पूर्व-देश, दक्षिणापथ, पश्चाद्देश, उत्तरापथ और मध्य देश हैं।

---

१ के भूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृत-भाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः।

आढ्यराज के राज्य में कौन प्राकृत-भाषाभाषी न हुआ और साहसाङ्क के समय कौन संस्कृत न बोलता था?

वाराणसी से पूर्व पूर्वदेश और माहिष्मती से पश्चिम का देश दक्षिणापथ है। ऐसे ही देव-सभा का पश्चिम-प्रदेश पश्चाद्देश और पृथूदक का उत्तरापथ है। इन चारों के मध्य-भाग को मध्य-देश कहते हैं। उपर्युक्त पाँच भागों के पर्वतों, नदियों एवं जनपदों का वर्णन विस्तारभय से नहीं किया जाता।

तत्कालीन भारतीयों के रंग तथा उच्चारण एवं पाठ-प्रणाली के विषय में राजशेखर लिखते हैं—"तत्र पौरस्त्यानां श्यामो वर्णः, दाक्षिणात्यानां कृष्णः, पाश्चात्यानां पाण्डुः, उदीच्यानां गौरः, मध्य-देश्यानां कृष्णः, श्यामो गौरश्च।" पूर्वियों का साँवला, दक्षिणियों का काला, पश्चिमवासियों का पीला और उत्तर में रहनेवालों का गोरा रंग होता है। पर मध्य-देश में रहनेवालों का रंग काला, साँवला और गोरा होता है।

पठन्ति संस्कृतं सुष्ठु कण्ठाः प्राकृतवाचि ते,
वाराणसीतः पूर्वेण ये केचन्मगधादयः॥

अर्थात् काशी से पूर्व रहनेवाले मागध आदि का संस्कृत पढ़ने का ढंग अच्छा है, पर वे प्राकृत-भाषा के उच्चारण में बेढंगे हैं।

"गौडस्त्यजतु वा गामन्या वास्तु सरस्वती।"
"नातिस्पष्टो न चाश्लिष्टो न रूक्षो नातिकोमलः।
न मन्द्रो नातितारश्च पाठी गौडेषु वाऽवः॥"

गौड़ लोग प्रकृत-भाषा नहीं बोल सकते। गौड़ों को चाहिए कि वे या तो प्राकृत-भाषा को छोड़ दें या प्राकृत-भाषा ही दूसरी हो जावे। गौड़-निवासी ब्राह्मण न अत्यन्त स्पष्ट, न अव्यक्त, न रूक्ष, न कोमल, न मन्द और न उच्च पाठवाले हैं।

गद्ये पद्येऽथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि,
गेय-गर्भे स्थितः पाठे सर्वोऽपि द्रविडः कविः।

गद्य हो या पद्य अथवा मिश्र काव्य (गद्यपद्यात्मक), सभी को द्रविड़ कवि गा गा कर पढ़ते हैं।

"पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृत-द्विषः
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ।"

संस्कृत-द्वेषी लाट-देशीय कवि ल ट भ वाली प्राकृत को ऐसी मधुर-भाषा में पढ़ते हैं मानों उस पर ललित आलाप से सौन्दर्य की मुहर लगी हो।

"सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्;
अपभ्रंशवदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि ।"

सुराष्ट्र और त्रवण आदि अपभ्रंश की भाँति संस्कृत-वाणी को भी अच्छे ढंग से बोलते हैं।

शारदायाः प्रसादेन काश्मीरः सुकविर्जनः
कर्णे गुडूचीगण्डूषस्तेषां पाठक्रमः किमु ॥

शारदा-देवी के प्रसाद से काश्मीरी लोग तो सुकवि होते ही हैं। उनके पाठ-क्रम का क्या कहना, मानो कानों में गिलोय की ही कुल्ली कर देते हैं!

"ततः पुरस्तात् कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे,
ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिकपाठिनः ।"

उत्तरापथ के कवियों का चाहे कितना ही संस्कार क्यों न हो, उनका पाठ सानुनासिक ही होता है।

मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां
सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः,
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्य-पाठः ।

पांचाल मण्डल के कवियों का सुन्दर काव्य-पाठ कुछ अपूर्व ही है। वह यतियों से विभक्त और गुणों की निधि है। उसमें वर्ण रचना के अनुकूल होते हैं और वह श्रोताओं के कानों में मधु की वृष्टि सी करता है।

मालूम पड़ता है कि राज-शेखर के समय में पांचाल और कान्यकुब्ज विद्या और सभ्यता में सर्वोत्कृष्ट थे। काव्य-मीमांसा के उपर्युक्त पद्य में पांचाल-देश के कवियों की पाठ-प्रणाली की प्रशंसा सबसे बढ़ कर की गई है। इसी प्रकार वह बाल-रामायण में लिखते हैं कि पांचाल-देश के रहनेवाले *अन्त-र्वेदी में भूषण-स्वरूप हैं। वे कमनीय कविताओं के भाजन होते हैं। लौकिक रचनाएँ हों या शास्त्रीय, उनका अनुराग नवीन सुन्दर उक्तियों में ही रहता है।

---

* इमे अन्तर्वेदी भूषणं पञ्चालाः

यत्रार्थे न तथानुरज्यति कविर्ग्रामीणगीर्गुम्फने
शास्त्रीयासु च लौकिकेषु च पथा भव्यासु नव्योक्तिषु;
पञ्चालास्तव पश्चिमेन त इमे वामागिरां भाजनाः
त्वद्दृष्टेरतिथीभवन्तु यमुनां त्रिस्रोतसं चान्तरा ।

बालरामायण—

विनशन और प्रयाग के मध्य-भाग को या गंगा और यमुना के मध्य भाग को अन्तर्वेदी अथवा अन्तर्वेद कहते हैं।

कान्यकुब्ज की कामिनियों के [१]वस्त्र-पहिनावे, आभूषण-धारण करने की प्रणाली, कवरी-कलाप के गूँथने और सँवारने के ढंग तथा मधुर भाषण-कला को सभी देश की रमणियाँ पसंद कर सीखती हैं और वैसी [२]वेश-भूषा बनाने और वैसी ही भाषा के प्रयोग का अभ्यास करती हैं। अर्थात् उस समय वहाँ की महिलाओं का फैशन ही सर्वत्र प्रचलित था और उनकी भाषा टकसाली मानी जाती थी।

राज-शेखर स्त्री-शिक्षा के बड़े पक्षपाती थे। इस विषय में उनके विचार बड़े उदार हैं। वह कहते हैं—"पुरुषवत् स्त्रियोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति न स्त्रैणं पौरुषं वा विभाग-

---

[१]यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां या सूक्ति मुद्राङ्कने
भङ्गिर्या कवरीचयेषु रचनं यद्भूषणालीषु च।
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललनालोकैरिहान्यच्च यत्
शेक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्यः स्त्रियः॥
(बाल-रामायण)

[२]कान्यकुब्ज नगर की रमणियों की वेश-भूषा का वर्णन कवि ने काव्य-मीमांसा के आठवें अध्याय में इस प्रकार किया है—"ताटङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेख्यानाभिविलम्बि दरदोलिततारहारम्। आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितोत्तरीयं वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम्॥ अर्थात् महोदय (कान्यकुब्ज) की सुन्दरियों के वेष को प्रणाम करो, जिसमें ताटङ्क (एक कर्ण-भूषण) के हिलने से कपोलों पर तरंगें उठ रही हैं, नाभि तक लटकता हुआ हार थोड़ा थोड़ा हिल रहा है और नितम्ब से लेकर गुल्फ पर्यन्त उत्तरीय परिमण्डलित है अर्थात् गोल गोल लिपटा है (वर्णन से मालूम होता है कि कमर से पैर के भाग तक गोल गोल लिपटा उत्तरीय 'सलवार' है)।

मपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते राज-पुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिका: कौतुकिभार्याश्च शास्त्र-प्रहतबुद्धयः कवयश्च।" पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। संस्कार का आत्मा से सम्बन्ध होता है। वह स्त्री और पुरुष के विभाग की अपेक्षा नहीं करता। सुनते और देखते भी हैं कि राज-कुमारियाँ, मन्त्रियों की कन्याएँ, वेश्याएँ और विदूपकों की स्त्रियाँ विदुषी और कवि हैं।

राजशेखर विदेश-यात्रा के भी विरोधी न थे। वह काव्य-मीमांसा में लिखते हैं—"किंचन महाकवयोऽपि देश-द्वीपान्तरकथा-पुरुषादिदर्शनेन तत्रत्यां व्यवहृतिं निबध्नन्ति।" अर्थात् महाकवि भी विदेशों और द्वीपान्तरों में घूम कर अपनी रचना में वहाँ का आचार-व्यवहार लिखते हैं।

———

६—महाकवि विल्हण और तत्कालीन कश्मीर

संस्कृत के कवियों में विद्यापति विल्हण का अत्यन्त उच्च स्थान है। इनका बनाया हुआ विक्रमाङ्कदेवचरित महाकाव्य है। यद्यपि इनके नाम के दो ग्रन्थ--विल्हणचरित और कर्ण-सुन्दरी नाटिका—और भी हैं तथापि विक्रमाङ्कचरित और इन ग्रन्थों की रचना-शैली में इतना अन्तर है कि विश्वास नहीं किया जा सकता कि ये ग्रन्थ विल्हण की कृति हैं। विक्रमाङ्कचरित ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में लिखा गया है। इसकी रचना के समय कश्मीर में कलशदेव और दक्षिण में चालुक्य-विक्रमादित्य राज्य कर रहे थे।

* विक्रमाङ्कदेवचरित का महत्त्व काव्य-गुणों से तो है ही पर ऐतिहासिक दृष्टि से इतिहास-अध्येताओं के लिए बड़ा उपयोगी है। कवि विल्हण ने इस काव्य के अन्त में कश्मीर का और अपना चरित लिखा है। उसके आधार पर पाठकों को उनका और प्राचीन कश्मीर का परिचय कराया जाता है।

---

* आस्ट्रिया देश के विद्वान् डाक्टर बुलर संस्कृत पुस्तकों की खोज के लिए राजपूताना गये थे। वहाँ जैसलमेर के किले में ताड़पत्रों पर लिखी हुई विक्रमाङ्कदेवचरित की पुस्तक उन्हें मिली थी, जिसे उन्होंने छपवाया था। छपी हुई प्रतियाँ कुछ ही वर्षों में अलभ्य हो गईं। संवत् १६७८ में स्वर्गीय साहित्याचार्य पं० रामावतार पाण्डेय ने उसका पुनः संस्कार करके ज्ञान-मण्डल यन्त्रालय में प्रकाशित करवाया। अब तो विक्रमाङ्कदेवचरित संस्कृत की परीक्षाओं के पाठ्य-ग्रन्थ में भी निर्धारित किया गया है।

वंश-परिचय

कवि विल्हण के पिता का नाम ज्येष्ठकलश और माता का नाम नानादेवी था। इनका गोत्र कौशिक था। इनके पूर्वजों को कश्मीर के महाराज गोपादित्य ले आये थे। विल्हण को पाण्डित्य उत्तराधिकार में ही मिला; क्योंकि इनके प्रपितामह मुक्तिकलश और पितामह राजकलश वेदों के प्रकाण्ड पण्डित और अग्नि-होत्री थे। इनके पिता भी वैदिक विषय और व्याकरण के अद्वितीय पण्डित थे। पतञ्जलि के प्रसिद्ध महाकाव्य पर इन्होंने व्याख्या की है। दुर्भाग्यवश अब वह मिलती नहीं है। विल्हण के दो भाई और थे--बड़े इष्टराम और छोटे आनन्द। इष्टराम बड़े विद्वान् और कवि थे। विल्हण की तरह ये भी अनेक राजाओं की सभाओं के भूषण रहे हैं। आनन्द भी साहित्य के पण्डित और कवि थे।

निवास-स्थान

उस समय कश्मीर की राजधानी प्रवरपुर से ५ मील की दूरी पर जयवन नामक उपवन था, जिसमें एक बढ़िया ऊँचा मन्दिर और आदिस्वामी तक्षक का कुण्ड बना हुआ था, जो सदा निर्मल जल से परिपूर्ण रहता था। उसी के समीप खाने-पुर ग्राम में महाकवि विल्हण रहते थे। कवि विल्हण उसकी प्रशंसा में लिखते हैं--श्रीकंठ के श्वशुर-हिमालय की गोद का रत्नभूत, अद्भुत कथाओं का आदिनिवासस्थान खानेपुर ग्राम है, जिसका वर्णन मैं क्या करूँ? जिसका एक भाग स्वभाव-सुन्दर केशर को उत्पन्न करता है और दूसरा भाग सरयू के किनारे उत्पन्न सफेद पौंडे की गँडेरी के समान अंगूरों को।

ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुतानां कथानां
किं श्रीकंठश्वशुरशिखरिक्रोडलीलाललामः ।
एको भागः प्रकृतिसुभगं कुंकुमं यत्र सूते
द्राक्षामन्यः सरससरयूपुराड्रकच्छेदपाण्डुम् ॥

यात्रा

विल्हण ने कश्मीर में ही विद्याध्ययन किया था। कश्मीर में उनकी पर्याप्त ख्याति हो चुकी तब उन्होंने भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों की भी यात्रा की। पंजाब होते हुए वह पहले मथुरा और वृन्दावन आये। मथुरा के पण्डितों को प्रथम शास्त्रार्थ में जीता। तदनन्तर वृन्दावन में कुछ दिन व्यतीत किये। वृन्दावन से वे कन्नौज आये। उस समय कान्य-कुब्ज नगर बड़ा सुन्दर और समृद्ध था। विल्हण कहते हैं—

उसमें ऐसे उन्नत मणिमय गृह बने थे जिन्होंने मानों सीढ़ियों द्वारा स्वर्ग की लक्ष्मी को उतार लिया हो, जिसके द्वार पर भगवती भागीरथी कलकल नाद कर रही थीं—ऐसे कान्यकुब्ज नगर को भी विल्हण की कवित्व-कीर्ति ने अपने वंश में कर लिया—

यस्योत्तुङ्गैर्मणिमयगृहैर्लीलयोत्तारिता श्रीः,
व्योमोत्संगात् त्रिदशपुरतः प्राप्तसोपानलीलैः ॥
द्वारे गंगाकृतकलकला तर्जयित्वा प्रविष्टा,
कीर्तिर्यस्य स्ववशमकरोत्तं पुरं कान्यकुब्जम् ॥

उपर्युक्त वर्णन में कवि की अत्युक्ति नहीं है। विल्हण के आने से लगभग ६० वर्ष पूर्व महमूद ने कन्नौज को लूटा था। तत्कालीन इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि कान्यकुब्ज उस समय उत्तर भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग ने लिखा है कि पंजाब, कान्यकुब्ज, गौड़, मिथिला, उड़ीसा आदि

देशों को जीतकर महाराज श्रीहर्ष ने कान्यकुब्ज नगर को अपनी राजधानी बनाया था। उसमें उसने विशाल अभ्रंलिह प्रासाद बनवाये थे। बहुत सम्भव है कि तीन-चार सौ वर्षों में कान्य-कुब्ज नष्ट न हुआ हो।

विल्हण कन्नौज से प्रयाग आये। वहाँ कुछ दिन रहे और त्रिवेणी पर खूब दान किया। वे प्रयाग से काशी गये। काशी में उन्होंने गंगास्नान करके अपने उन पापों को धो डाला जो उन्हें दैववश दुष्ट राजाओं के दर्शन से लगा था। गंगा के विषय में वे वर्णन करते हैं--कलियुग के भय से धर्म मानों काशी में भाग आया है, जिसके मार्गश्रम को भगवती भागीरथी अपने जलकणों से दूर कर रही हैं। आश्चर्य है कि विल्हण कवि ने काशी जैसे विद्यापीठ पर कुछ भी नहीं लिखा, केवल गंगा मात्र का वर्णन कर चुप हो गये। बहुत सम्भव है कि वहाँ उनसे भी अधिक विद्वान् हों, जिनमें ख्याति पाना असम्भव समझकर वे वहाँ बहुत न ठहरे हों। पर काशी के विषय में मौन रहना अवश्य खटकनेवाली बात है। विल्हण अपने को सबसे बढ़कर माननेवाले व्यक्ति भी न थे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है-मुझसे जो अधिक गुणी थे, उनसे मैंने अध्ययन किया है। काशी के बाद कालिञ्जर-नरेश को हरानेवाले डाहल नरेश 'कर्ण के यहाँ गये। डाहल नरेश ने बड़ी उत्सुकता से इनके अमृतमय काव्य को सुना। उन्हीं की सभा में इन्होंने सामयिक विद्वान् गंगाधर शास्त्री को पराजित किया था। पुरातत्त्व विभाग का अनुमान है कि डाहल बुन्देलखण्ड का एक राज्य है।

जिस समय विल्हण धारा नगरी गये हैं, धाराधिप भोज उस मर चुके थे। भोज के निधन का गहरा प्रभाव इनके हृदय पड़ा था।

बड़े मर्मस्पर्शी करुण शब्दों में वे लिखते हैं कि फाटक के ऊँचे शिखरों की गोद में बैठे हुए कपोतों के कलरव के व्याज से धारा नगरी मानों रोकर कह रही थी कि महाराज भोज आजकल के राजाओं के समान न थे। हाय ! आप उनके सामने नहीं आये ! हा ! मैं हतभाग्य हूँ।

भोजः क्ष्माभृत् स खलु न खलैर्यस्य साम्यं नरेन्द्रैः,
तत्प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि।
यस्य द्वारोड्डमरशिखिरक्रोडपारावतानाम्,
नादव्याजादिति सकरुणं व्याजहारेव धारा ॥

धारा जाने के बाद बिल्हण गुजरात गये हैं। रास्ते में उनका गुजरातियों से पाला पड़ा। गुजरातियों के आचार और वेश-भूषा से वे खीझ से गये। वे लिखते हैं कि जो काछ नहीं बाँधते तथा अश्लील बकते हैं उनके सम्पर्क से जो सन्ताप हुआ वह श्री सोमनाथजी के दर्शन से शान्त हुआ।

गुजरात के सोमनाथ मन्दिर पर महमूद का आक्रमण १०२४ ई० में हुआ था। बिल्हण के समय में, मालूम होता है कि, उस मन्दिर का हिन्दुओं ने पुनरुद्धार कर लिया होगा। वहाँ से वे वेरावल से जहाज में चढ़ कर दक्षिण को चले गये। वहाँ कल्याण में चालुक्य विक्रमादित्य के यहाँ विद्यापति की पदवी पाई और उन्हीं के आश्रित हो बिल्हण ने वृद्धावस्था में विक्रमाङ्कचरित काव्य की रचना की है।

प्राचीन कश्मीर

प्राचीन काल से कश्मीर आर्य सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र रहा है। अधिक समय की बात जाने दीजिए। राजपूत काल तक

में भी वह हिन्दू संस्कृति का केन्द्र और भारतवर्ष का प्राचीन विद्यापीठ समझा जाता था। वाग्देवतावतार, काव्यप्रकाश के निर्माता श्री मम्मट तथा पतञ्जलि के महाभाष्य के व्याख्याकार कैयट शालिवाहन की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में कश्मीर में ही हुए।

राजतरंगिणी नामक इतिहास के रचयिता कल्हण भी कश्मीरी ही थे। कान्यकुब्जाधिपति महाराज जयचन्द्र के सभा-पण्डित कवि-तार्किक श्रीहर्ष को अपना नैषध काव्य दिखलाने के लिए कश्मीर ले जाना पड़ा। कश्मीर की रमणीय पवित्र वसुन्धरा विद्याओं की लीलाभूमि थी। इसी लिए प्राचीन कवियों ने कल्पना की है कि सरस्वती कश्मीर में रहती है अतएव कश्मीर का दूसरा नाम शारदा-देश है।

विल्हण ने बड़े दावे के साथ लिखा है कि कविता-विलास केशर के सहोदर हैं अर्थात् केशर और कविता की उपज साथ ही साथ होती है। इनको शारदा-देश कश्मीर को छोड़कर अन्यत्र उगते नहीं देखा।

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥

विल्हण ने विक्रमाङ्कचरित के अन्त में ३२ पद्यों में कश्मीर का वर्णन बड़ा ही हृदयग्राही किया है। नमूने के तौर पर कुछ पद्यों का आशय नीचे दिया जाता है। विस्तार-भय से सब पद्यों का अनुवाद हम नहीं दे सकते।

कश्मीर में झेलम और सिंधु के संगम पर बसा हुआ नगरों में श्रेष्ठ प्रवरपुर है। वह इतना प्राचीन है कि शिव और पार्वती के विवाह की साक्षी दे रहा है, जिसमें वितस्ता नदी की कुटिल तरंगें

उठ रही हैं जो मानो इच्छा से दौड़ते हुए कलियुग रूपी हस्ती के अंकुश का काम कर रही हैं।

वहाँ के उद्यानों में अंगूर समस्त संसार से मधुर हैं, जिनके रस को पीने से ही मानों कमलिनी-वल्लभ की गर्मी शान्त हो गई है। इसी लिए ज्येष्ठ और आषाढ़ में भी रत्नश्रेणी की किरणों की भाँति वे कोमल किरण-मालाओं को धारण करते हैं।

रावण जब शिव के कैलाश को उठाकर पुष्पक विमान द्वारा बड़े अभिमान के साथ हँसता हुआ चला तो इस प्रवरपुर से—जहाँ कि ब्रह्मतेजवाले ब्राह्मण रहते थे—दूर ही रहा। वह वहाँ के ब्राह्मणों से डरता था।

प्रवरपुर के गगनचुम्बी प्रासादों में खिड़कियों के समीप विद्वान लोग, जो कि संसार में अत्यन्त दुर्लभ हैं, शास्त्रों की व्याख्या में लगे रहते हैं। वहाँ के ब्राह्मण प्रातःकाल और सायं-काल हवन किया करते हैं। वे अग्निहोत्र के धूम से अपने काले शिरों से कलि को डराते हैं।

प्रवरपुर सारस्वत कुल की अर्थात् पण्डितों की जन्मभूमि और कौतुकों की निधि है। वहाँ के अनेक अद्भुत गुणों के कथा-मृत से कान भर जाते हैं। अधिक क्या कहें, वहाँ के प्रत्येक घर में महिलाएँ संस्कृत-भाषा और प्राकृत-भाषा मातृभाषा की भाँति बोलती हैं।

वहाँ नाट्यगृहों में सुन्दरियों के अंगक्षेप को देख कर रम्भा, चित्रलेखा तथा उर्वशी आदि अप्सराएँ लज्जित होती हैं।

शिशिर ऋतु में वहाँ कोमल स्निग्ध केशर-लेप से महिलाओं की कुचश्री तथा रंकु के रोओं से बनी हुई पट्टियाँ, जिनमें कस्तूरी की गन्ध आ रही है एवं नौकाओं पर स्थित वितस्ता नदी के अंत-र्गत स्नानागार स्वर्ग का सुख दे रहे हैं।

जिनके मुख पर बर्फ के टुकड़े पड़े हुए हैं ऐसे जल के कलश, कश्मीरी कामिनियों के सरस कदली के समान गात्र तथा हिम-शिला से शीतल स्थल भयंकर ग्रीष्म की क्लान्ति को मिटाने के हेतु सबों के लिए एक से हैं।

उपसंहार

संसार कितना परिवर्तन-शील है। आज आठ सौ वर्षों में कश्मीर में कितना अन्तर हो गया है। जो कश्मीर आर्य-संस्कृति का केन्द्र था वह अनार्य्य संस्कृति का अड्डा बन रहा है। वृन्दावन, काशी आदि धार्मिक नगरों की भाँति जहाँ भट्टारक मठ, संक्रमण क्षेत्र तथा क्षेम गौरीशङ्कर आदि विशाल मन्दिर थे वहाँ अब इनके ध्वंसावशेषों के चिह्न भी मिलना दुर्लभ है। जहाँ की महिलाएँ संस्कृत और प्राकृत बोलती थीं वहाँ आज अनार्य्य भाषा का व्यवहार हो रहा है। वहाँ के निवासी ९० प्रतिशत यवन-मत को अंगीकार कर चुके हैं। वहाँ के बचे-खुचे कश्मीरी ब्राह्मणों का आचार भी अब वैसा नहीं रहा। आज विल्हण जीवित होते और कश्मीर को देखते तो उनकी क्या दशा होती। जो सोमनाथ की यात्रा में तहमत बाँधे हुए गुजरातियों को देखकर संतप्त हुए थे, उन्हें क्या मालूम था कि हमारे देशवासी तथा हमारी भावी सन्तानें कच्छा बाँधनेवाली न रहेंगी। हाय! इस परिवर्तन को देखकर किस आर्य्य सभ्यताभिमानी हिन्दू का हृदय नहीं विदीर्ण होता?

हिन्दू संस्कृति और धर्म को बौद्धकाल में भी धक्का पहुँचा था जब कि काशी की एक कन्या अट्टालिका पर दुःखित हो रही थी और कह रही थी कि 'किङ्करोमि क गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति' —क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कौन वेदों का उद्धार करेगा। सौभाग्य-

वश इस करुण क्रन्दन को सुन लिया था और नीचे से जवाब दिया था कि 'मा चिन्तय वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले ।' हे सुन्दरी, मत चिन्ता करो। अभी पृथ्वी पर कुमारिल भट्ट जीता है।

निदान भट्टाचार्य ने आर्यधर्म का पुनरुद्धार किया ।

कश्मीर की ही नहीं, आज समस्त भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति खतरे में है पर हिन्दू जाति अभी गाढ़ निद्रा में पड़ी हुई है । क्या अब कुमारिल भट्ट जैसे विद्वान् पुनः भारत में जन्म लेकर प्राचीन संस्कृति की रक्षा न करेंगे ?

१०—कवि कर्णपूर और आनन्द-वृन्दावन चम्पू

ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण हो चुके थे। निरंतर आक्रमणों से हिन्दू धर्म का ह्रास होने लगा था। पर बङ्गाल में हिन्दू धर्म के उद्धारार्थ चैतन्य महाप्रभु कृष्ण-भक्ति का प्रचार कर रहे थे। भक्ति-स्रोत तीव्र वेग से प्रवाहित होने लगा था। उसी समय, १५२४ ईसवी में स्वनामधन्य महाकवि कर्णपूर ने वंगदेश में, नदिया प्रान्त के, काञ्चनपल्ली ग्राम में वैद्य कुल में जन्म लिया। इनका प्रकृत नाम पुरीदास था। कर्णपूर उपाधि महाप्रभु चैतन्यदेव की दी हुई है। किंवदन्ती है कि यह बालक ही थे तब इनके पिता श्री शिवानंद सेन एक बार तीर्थयात्रा के लिए नील-पर्वत (पुरी) पर गये थे। वहाँ महाप्रभु चैतन्यदेव जी भी विराजमान थे। शिवानन्द जी इनको लेकर महाप्रभु के दर्शन करने गये। महाप्रभु ने इनकी ओर प्यार से देखकर 'कृष्ण-कृष्ण' कहा; किन्तु यह बिल्कुल नहीं बोले। महाप्रभु ने कहा कि आश्चर्य है कि मैंने सभी चर-अचर प्राणियों में कृष्ण नाम का प्रचार किया है, पर यह बालक कृष्ण का नाम नहीं लेता! उस समय महाप्रभु के अंतरङ्ग श्री स्वरूप गोस्वामी ने कहा कि प्रभो, यह बालक 'कृष्णमन्त्र' को मन में जप रहा है। इस पर महाप्रभु ने अपने

---

*कर्णपूर कवि की जीवनी स्वर्गीय राधाकृष्ण गोस्वामी जी ने लिखी है। कवि के जीवन का उपर्युक्त वृत्त लेखक ने उसी से लिया है। अतः लेखक गोस्वामीजी का कृतज्ञ है।

पैर का अँगूठा इनके मुँह में कर दिया, तब यकायक इनके मुँह से यह श्लोक निकल पड़ा—

"श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति।"

महाप्रभु ने अलौकिक कवित्व-शक्ति को देख कर इनका नाम "कवि कर्णपूर" रख दिया। तभी से इनकी ख्याति 'कवि कर्णपूर' के नाम से हुई। यह चैतन्यदेव के परम भक्त थे। आनन्द-वृन्दावन चम्पू के प्रारम्भ में चैतन्यदेव को अपना 'कुलदैवत' लिखा है और उनको ये साक्षात् कृष्णावतार मानते थे। निम्न लिखित श्लोक से सूचित होता है कि यह वृन्दावन में रहे हैं और वहाँ श्रीनाथ जी से विद्या पढ़ी है—

गुरुं नः श्रीनाथाभिधमवनिदेवान्वयविधुं
नुमो भूपारत्नं भुव इव विभारस्य दयितम्
यदा स्यादुन्मीलन्वरवकरवृन्दावनरहः
कथास्वादं लब्ध्वा जगति न जनः क्वापि रमते।

ब्राह्मण कुल के चन्द्र श्रीनाथ देव मेरे गुरु हैं। वे पृथिवी पर भूषणरत्न और चैतन्य प्रभु के प्यारे हैं। उनको मैं प्रणाम करता हूँ। उनके मुख से निकली हुई वृन्दावन की (कृष्ण भगवान् की) केलि-कथाओं का सुनकर संसार में कौन नहीं आनन्दित होता?

कृष्णाह्निक-कौमुदी, चैतन्य-चन्द्रोदय आदि विविध ग्रन्थ इनकी कृति हैं। प्रस्तुत लेख में आनन्दवृन्दावन चम्पू का परिचय कराया जायगा।

आनन्दवृन्दावन चम्पू

गद्य-पद्यमय काव्य को चम्पू कहते हैं। आनन्दवृन्दावन के प्रधान नायक श्रीकृष्ण हैं, वृषभानुनन्दिनी राधा नायिका हैं, चन्द्रा-

वती, ललिता, श्यामा आदि उनकी सहचरियाँ है। इसमें कृष्ण भगवान् के जन्म से लेकर किशोरावस्था तक की सभी ललित लीलाओं का वर्णन है। आख्यान भाग भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर लिखा गया है। चम्पू का प्रधान रस शृंगार है। स्थल स्थल पर वीर, अद्भुत आदि रसों का भी सन्निवेश है। जिस प्रकार नाटक में विदूषक होता है, उसी प्रकार कवि ने कृष्ण के साथी 'कुसुमासव' को कल्पित किया है जिससे हास्य रस का परिपाक अच्छा हुआ है। चम्पू की रचनारीति वैदर्भी है। कहीं कहीं रसों का अनुसरण करती हुई अन्य रीतियाँ भी हैं। अधिकांश में गुण प्रसाद माधुर्य हैं।

ग्रन्थारम्भ

कवि कर्णपूर निर्विघ्न समाप्ति के हेतु कृष्णस्तुति द्वारा मंगलाचरण करते हैं कि मैं कृष्ण भगवान् के चरण-कमलों की वंदना करता हूँ जो सदा कुरंग-नयनियों के अंगराग-लिप्त स्तनों से आलिङ्गित रहते हैं। निरन्तर आलिङ्गन-संग से चरण-कमलों में अंगराग मानों नैसर्गिकता को प्राप्त हो विलस रहा है; क्योंकि तलुवों की ललाई केसर को, ऊपर के भाग की (पैर के ऊपर के भाग की) श्यामता कस्तूरी को और नखचन्द्र की कांति-लहरी चंदन को प्रकट कर रही है।

वन्दे कृष्णपदारविन्दयुगलं यस्मिन् कुरङ्गीदृशाम्,
वक्षोजप्रणयीकृते विलसति स्निग्धोऽङ्गरागः स्वतः।
काश्मीरं तलशोणिमोपरितनः कस्तूरिका नीलिमा,
श्रीखण्डं नखचन्द्रकांतिलहरी निर्व्याजमातन्वते।

कितना सुन्दर भाव है। स्वाभाविक अंगराग की उत्प्रेक्षा कितनी मर्मस्पर्शिनी है। प्रथम पद्य ही कवि की कितनी उत्कृष्ट

प्रतिभा का निदर्शन है। काश्मीर लाल रंग की भी होती है। वह वाह्लीक देश में पैदा होती है। भागवतकार ने भी कुंकुम को अरुण रंग का लिखा है 'रमाननाम नवकुंकुमारुणम्'। अतः तल-शोणिमा केसर को प्रकट कर रही है। यह वर्णन उपयुक्त है। पाठक केसर को केवल पीले रंग का ही समझ कर शंका न करें। तदनन्तर वाणी की वन्दना करते हैं कि हे वाणि, तुम्हारी स्तुति भला मैं किस तरह करूँ? मैं ही क्या, कोई भी प्राणी तुम्हारी चेष्टा को वर्णन नहीं कर सकता है। क्योंकि जो तुम्हें अच्छी तरह से बाँधता है उसी का तुम आदर करती हो। और जो भली भाँति नहीं बाँधता है उसकी मर्य्यादा का नाश करती हो। यह तुम्हारी चेष्टा विचित्र है। 'सुबद्धा' पद से आपाततः विरोध भासित होता है कि जो जिसको बाँधेगा वह उसके यश को क्यों फैलाने लगेगा? किन्तु 'बन्ध' धातु का अर्थ बनाना और बाँधना दोनों हैं। वास्तविक अर्थ यह है कि जो सुन्दर रचना करता है वही यशोभागी होता है और कुत्सित रचना करनेवाला अपमानित होता है।

"तव स्तवं किं करवाणि? वाणि प्राणी न वक्तुं क्षमते त्वदीहाम्
यतः सुबद्धैव तनोषि मानं तमन्यथा सन्तमपि क्षिणोषि।"

फिर कहते हैं कि हे मातः, तुम्हारी निरन्तर करुणा मुझ पर रहती है जिससे मुझे परम आमोद-प्रमोद प्राप्त हैं। क्या तुम्हीं से (वाणी से) तुम्हारी (वाणी की) पूजा करूँ? जल से जलनिधि की पूजा कौन करता है? हाँ, तुम्हारे उपकार के बदले में यह अवश्य करता हूँ कि तुमको कृष्णलीलामृत-स्रोत में डुबाये देता हूँ, जिससे पुनः तुम इससे निकल न सको।

मातर्वाणि ! तवानिशं करुणया लब्धप्रमोदा वयं
किन्तु त्वां स्तुमहे त्वयैव यजतां तोयेन कस्तोयधिम्;
एतत्प्रत्युपकुर्महे भगवतः कृष्णस्य लीलामृत--
स्रोतस्येव निमज्जयामि भवतीं नोत्थेयमस्मात्पुनः।

ग्रन्थकार भावी समालोचकों के प्रति निवेदन करते हैं कि मेरी रचना में आप लोग जो दोष निकालेंगे उन पर मेरी दृष्टि पड़ती ही नहीं है। क्योंकि यह नियम है कि अपनी कविता सभी को प्रिय लगती है। देखो, प्रदीप चारों तरफ अन्धकार को दूर करता है पर अपने तले के अन्धकार को दूर नहीं करता।

आत्मनः प्रियतमा तनुभाजां नात्मनः कृतिषु दूषणदृष्टिः;
सर्वतस्तिमिरमस्यति दीपो नात्ममूलतिमिरं विनिहन्ति।

निम्नलिखित छन्द में कवि कर्णपूर कितना विनय प्रकट कर रहे हैं कि मानव-रचना में दोषों का होना स्वाभाविक है। तभी तक पद निर्दोष रह सकते हैं जब तक वह पृथक् पृथक् हैं। जहाँ कवि ने अपनी जिह्वा-सूची से उनका ग्रथन किया कि दोष आ ही गये।

तावत्पदानि जायन्ते निर्दोषाणि पृथक् पृथक्,
यावत्स्वरसनासूच्या तानि ग्रथ्नाति नो कविः।

किन्तु जो रमणीय रचना में भी दोषैकदर्शी हैं, ऐसे छिद्रान्वेषी खलों को कवि ने खूब फटकार बतलाई है। हे खल, जिह्वारूपिणी सम्मार्जनी (बुहारी), तू यद्यपि दूसरों के मल को फेंक कर भुवन-तल को साफ करती है तथापि तेरे स्पर्श से भय है।

निर्म्मलयसि भुवनतलं सततात्क्षिप्तेन परमलेन,
खल रसने सम्मार्जनि तदपि च भीतिर्भवत्स्पर्शे।

जिस प्रकार बुहारी मणिमय स्थल में भी मल को ग्रहण करती है उसी प्रकार खल जिह्वा अवगुणों को ही बखानती है। सम्मार्जनी के सादृश्य से कवि ने खलों को दूर से ही त्यागने योग्य बतलाया है।

कवि कर्णपूर खलों का सादृश्य नख और बालों से देते हैं। कहते हैं कि जिनके काटने पर जरा भी व्यथा नहीं और जो बढ़ने पर सबको परेशान करते हैं ऐसे नख और बालों से खल पृथक् नहीं हैं। कौन स्वतन्त्र पुरुष उनका त्याग नहीं करते अर्थात् सभी करते हैं।

न लवोऽपि लवेन च व्यथायाः परिवृद्धो विदुनोति यस्य सर्व्वः
न खलो नखलोमतो मतोऽन्यस्तमबद्धा किल के न संत्यजेयुः ?

नख और बाल शरीर-सौन्दर्य के आच्छादक होते हैं। खल काव्य-सौन्दर्य पर परदा डालते हैं 'तमबद्धाः किल के न संत्यजेयुः' से कवि ने यह आशय प्रकट किया है कि पराधीन कैदी और अपराधी नख और बाल कटाने में असमर्थ होते हैं, पर स्वाधीन नहीं। स्वतन्त्र पुरुष खलों का परित्याग करते हैं, पराधीन भले न कर सकें। पाठक मूल संस्कृत के पद्य पर ध्यान दें। शब्द-योजना कैसी सुन्दर है। अनुवाद में पद्य का आनन्द नहीं है।

गद्य भाग

पद्य की अपेक्षा गद्य लिखने में कवि की प्रतिभा को विकास का समुचित अवसर मिलता है। पद्य की भाँति उसमें छन्दो-नियम बाधक नहीं हैं। गद्य-रचना में सर्वाङ्गीण रचना अपेक्षित होती है। इसी लिए कहा है कि गद्य-रचना कवियों की कसौटी होती है 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'। स्वर्गीय साहित्याचार्य

अम्बिकादत्त व्यास अपनी गद्य-काव्यमीमांसा में लिखते हैं— 'कविता में तो एक अंश के सुन्दर होने से कवित्त अच्छा लगने लगता है। गद्य सर्वाङ्गसुन्दर हो, तभी अच्छा लगता है। गद्य में यथोचित शब्द का प्रयोग न किया जाय तो यह कहने की जगह नहीं रहती कि क्या करें, छन्द के परवश हैं।' तात्पर्य यह है कि गद्य-रचना पद्य-रचना से भी कठिन है। गद्य में जो कवि सुन्दरतापूर्वक विषय का प्रतिपादन नहीं कर सका वह कवि-पद का अधिकारी नहीं है। कवि कर्णपूर की गद्य-लेखन-चातुरी का भी नमूना पाठक देखें—समुदियाय तुहिनकिरणः स च प्रथमं कोपारुणमुखकमलायाः कमलायाः कपोलपोलककनक-ताटङ्क इव युवजनहृत्पटरङ्गकुण्डवलय इवानङ्गरञ्जकस्य नभः-कुण्ड-ताण्डविता रसमयसमयनिश्चयघटिकाघटिकापात्रीव ताम्रमयी सितपरमण्डप इव रश्मिरश्मिवितानितऋतुराजस्य, सपल्लवो राजतकुम्भ इव रजनीजनीमहोत्सवस्य, विकीर्णतरताराकारातु-लमौक्तिकपटलः शुक्तिसम्पुट इव गगनक्षीरनिधेः, दर्पण इव शोभा-देव्याः, चन्दनतिलक इव रजनिरमण्याः, एकं पुण्डरीक-मिवानन्दसरोवरस्य हिण्डीरपिण्ड इव मधुरिमजलराशेः, सौध इव सौन्दर्य्य-देवतायाः सैकतवलय इवाकाशगङ्गायाः।' वृन्दावन में चन्द्रमा का उदय हुआ, जो प्रथम कोप से अरुण मुख-कमल-वाली कमला (लक्ष्मी) के कपोल तक फैले हुए (अतएव कपोल-कान्ति-मिश्रित) कनक ताटङ्क की भाँति, अनङ्ग रंगरेज के—युवक जनों के हृदय पर रँगने के माठ की भाँति और आकाश रूपी कुण्ड में नाचती हुई वसन्त समय की घड़ियों को बतलानेवाली तावे की घड़ी की भाँति शोभित हुआ। पुनः ऐसा लगता था मानो किरण की डोरियों से ताना हुआ ऋतुराज का श्वेत मण्डप (शामियाना) हो, रजनी वधू के महोत्सव का पल्लव सहित राजत

कुम्भ (चाँदी का घड़ा) हो, गगन-क्षीरनिधि का शुक्ति सम्पुट (जिसमें छिटके हुए तारों की तरह मोतियों के दाने चमक रहे हैं) हो, शोभा देवी का दर्पण हो, रजनी रमणी का चन्दन तिलक हो, आनन्द सरोवर का एकमात्र पुण्डरीक (श्वेत कमल) हो, मधुरिमा रूपी जलराशि का फेनपुञ्ज हो, सौन्दर्य-देवता का सौध (चूने से पुता सफेद महल) हो अथवा आकाश गङ्गा का सैकत-समूह (बालू का टीला) हो।

चन्द्रमा उदय के समय अरुण हो जाता है और पश्चात् शुभ्र हो जाता है। इसी लिए कवि ने कोप से अरुण मुखवाली कमला के ताटंक और ताम्रमयी घटिका की प्रथम उत्प्रेक्षा की है और पश्चात् ऋतुराज के पट-मण्डप आदि से की है। कल्पनाएँ सुन्दर हैं। मधुररस के विपरीत शब्दविन्यास कहीं-कहीं अवश्य है।

परिसंख्यालंकार गद्य में विशेष चमत्कारजनक होता है। निम्नलिखित गद्य में परिसंख्यालंकार देखिए—'यत्र काचनराजधानी व्रजपुरन्दरस्य, पत्रमेखलाशृङ्खलादिष्वेव खल इति स्वस्वसरःस्वेव मत्सर इति चन्द्र एवं दोषाकर इति परिमलादिष्वेव मल इति छत्रचामरादिदण्डेष्वेव दण्ड इति चन्दनकुङ्कुमादिपंकेष्वेव पंक इति समाध्यादौ केवलमाधिरापीडादौ पीडेति शब्दः श्रूयते।' व्रजपुरंदर नंद की राजधानी अपूर्व थी, जिसमें खल शब्द मेखला शृङ्खला आदि ही में, मत्सर शब्द अपने अपने सरोवरों ही मे, दोषाकर शब्द (दोष समूह) चन्द्र ही में, मल शब्द परिमल (सुगन्ध) आदि ही में, दण्ड शब्द छत्रचामर आदि ही में, पंक शब्द कुंकुमादि पंक मे, आधि शब्द (आधि-मानसिक व्यथा) समाधि आदि ही में और पीडा आदि शब्द आपीड (मुकुट) ही में सुनाई देता था। आनन्द-वृन्दावन में

विरोधाभास अनेक अलंकार हैं। विस्तारभय से सब उदाहरण नहीं दिये जा सकते । सहृदय पाठकों के सम्मुख हमको यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं है कि चम्पू का पद्यभाग गद्य की अपेक्षा मनोहर है । गद्यभाग में यमकालंकार का इतना बाहुल्य है जिससे भाषा में कृत्रिमता आ गई है । मुख्य रस दब गया है । मनोवेग और भावों के अभिव्यजन में शैथिल्य आ गया है । पर सौभाग्यवश पद्यभाग में यह बात नहीं। उसमें रस की नदियाँ उमड़ रही हैं, जिसमें सहृदय सरापा डूब जाते हैं। आनन्द-वृन्दावन की कविता की उपमा हम गन्ने से दे सकते हैं, जिसमें यमक की गाँठें हैं, जो रसास्वादन में अन्तराय हो जाती हैं। इसमें संदेह नहीं कि कर्णपूर सहृदय और भावक हैं। कविहृदय-सुलभ वासना वह माता के हृदय से ही लायें हैं, किन्तु जिस समय कवि कर्णपूर हुए हैं उस समय गद्य-काव्य में यमक और श्लेष लिखने की प्रणाली थी। कवि कितना ही स्वतन्त्र और प्रतिभाशाली क्यों न हो, उसकी रचना पर सामयिक परिस्थिति का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। इन सब बंधनों के होते हुए भी कवि का स्वाभाविक कवित्व परिस्फुटित्त हुआ है। चम्पू के जो यमकालङ्कार रसास्वादन कराने में सहायक हैं और जो कवि के बिना यत्न के ही उपस्थित से हो गये हैं, लेखक उनका विरोधी नहीं। निम्नलिखित पद्य में देखिए, राधा का अनुराग कृष्ण में देखकर सखी कहती है--'नहि कुमुदो बान्धवमन्तरेण कुमुद्वतीमुद्वती भवितुमर्हति तपनमण्डलमन्तरेण कमलिनी मलिनीभावमर्हति नहि जलधरोत्संगसंगमन्तरेण सौदामिनी दामिनीभावितुमीष्टे।' यहाँ पर यमकालंकार रस-विरोधी रस नहीं है।

वंशी-निनाद

वृन्दावन में आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने वंशी बजाई है, जिसे सुनकर गोपियाँ अधीर हो उठी हैं। किसी ने हार को कमर में पहन लिया है, जंजीर (करधनी) गले में डाल ली है, नूपुर कंधों में बाँध लिये हैं, अङ्गद चरणकमलों में पहिन लिये हैं, नीवी मणि को चूड़ा में और चूड़ामणि नीवी में बाँध ली है। मानो आनन्दोत्सव में अंगों ने परस्पर एक दूसरे को अपने आभूषण दे डाले हैं। किसी गोपी ने एक ही आँख में अंजन लगाया है, एक ही पैर को महावर से रँगा है और एक ही कुच में कुंकुम का लेप किया है। वास्तव में स्वाभाविक कान्ति से कमनीय गोपियों को आभूषणों की आवश्यकता ही न थी। इस प्रकार भूषणों का विपर्य्यास (उलट फेर) प्रणयसूचक भावों को (विभ्रम उसे कहते हैं जब जल्दी में युवतियाँ गहने आदि को ठीक तरह से नहीं पहनती हैं) प्रकट कर रहा था।

हारं श्रोणितटे मणीन्द्ररसना वक्षोजयोर्नूपुरे
दोष्णोरङ्गदमङ्घ्रिनभ्रयुगले केशेषु नीवेर्मणिम्
नीवी केशमणिं दधुर्मृगदृशो मन्ये प्रमोदोदया-
दङ्गान्येव परस्परं विदधिरे हर्षप्रसादोत्सवम्।
अक्ष्णोरेकमनञ्जितं चरणयोरेकोऽभवल्लाक्षया
रक्तः कुंकुमकर्दमेन कुचयोर्नैकः समालेपितः
स्वाभिः कान्तिभिरेव हन्त सुदृशामेतानि गाढं बभु-
र्लोभोऽयं तु विशेष एव यदियं रागोदय-व्यञ्जना ॥

किसी ने दुपट्टे को साड़ी की जगह पहन लिया है और साड़ी दुपट्टे की जगह पहन ली। मानो अंग परस्पर एक दूसरे का सम्मान कर रहे हैं।

उत्तरीयमपि चान्तरीयतामन्तरीयमपि चोत्तरीयताम्,
यज्जगाम किमभूत् परस्परं पूजनं तदनि नूतमंगयोः ॥

एक गोपी घबड़ाई हुई जा रही है। यकायक दौड़ने से उसकी नीवी की गाँठ छूट गई है। पर वह अपने दूसरे कर-कमल से उसे पकड़ लेती है। कवि कहता है कि उस समय नाभि के ऊपर नीवी के डोरे और कर-कमल से उत्पन्न शोभा नारायण के शरीर—नाभि-विवर से जिसमें कमल-कोष निकल रहा है—की शोभा को जीत रही थी। दूसरी गोपी के एक ही चरण-कमल पर दासी महावर लगा पाई थी। वह सूखने भी न पाया था कि गोपी सहसा उठकर चल दी। गीले महावर से मार्ग का एक भाग लाल हो गया था। कवि कहता है कि उस समय गोपी शिव की अर्धशरीर-स्वरूप पार्वती को लज्जित कर रही थी (हर के भी बायें पैर में महावर लगता है, क्योंकि पार्वती उनकी अर्धाङ्गिनी हैं)।

प्रस्थानवेगशिथिलां करकुड्मलेन
धृत्वैव नीविमपरा चपलं चलन्तीम्।
तत्कालनाभिविवरोदयदब्जकोषा
नारायणस्य वपुषः सुषमा विजिग्ये ॥
कृत्वैकपादकमलेऽनुचरीकृताद्र-
लाक्षारसैः सरणिमेकत एव शोणाम्।
यान्त्या कयाचन हरार्धशरीररूपा
शैलाधिराजतनया नितरां विजिग्ये ॥

इन दोनों पद्यों को पढ़ने से कालिदास के निम्नलिखित श्लोकों की याद आ जाती है—

जलान्तरप्रेक्षितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ।
प्रसाधिकालम्बितमग्रपादम क्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ।

इसमें संदेह नहीं कि इन श्लोकों की रचना के समय कर्णपूर की दृष्टि में दोनों छन्द थे । कवि ने भावों को ग्रहण किया है तथापि नारायण के शरीर और शैल-सुता के सादृश्य से अपूर्व चमत्कार पैदा हो गया है। कर्णपूर इन पद्यों में अपहरण दोष से बच गये हैं । ऐसा अपहरण दूषण नहीं वरन् भूषण ही है । वंशी-निनाद को सुनकर आई हुई गोपियों से कृष्ण कहते हैं—यद्यपि आप जैसी महिलाओं को भूषण अत्यन्त प्रिय हैं, तथापि आधा शरीर ही सँवारा है। आशंका होती है कि क्या कोई महाविपत्ति उपस्थित हुई है ? देखो, आने की घबड़ाहट अब भी दूर नहीं हुई है। तुम्हारे कर्णोत्पल स्वेद-बिन्दुओं से भीग गये हैं और अलकावली में स्वेदबिन्दु ऐसे दिखाई पड़ते हैं मानों मोती गुहे हों। साँसें लम्बी ले रही हो। लम्बी साँसों से अधर-पल्लवों की कान्ति परिम्लान हो गई है और स्तनपट अत्यन्त काँप रहा है ।

अर्धार्धं परिलोच्यते वपुषि वः व्जेमण्डनं मण्डनं
युष्माभिः प्रियमण्डनाभिरपि च प्रारम्भि नात्रादरः
तेनैवेदमशङ्कि पङ्कजदृशो जातं तदत्याहितम्
येनाद्यापि ससम्भ्रमागमनजा श्रान्तिर्न विश्राम्यति ।
क्लिन्नानि श्रवणोत्पलानि वनितैः स्वेदाम्भसो बिन्दुभिः
मुक्ताभिर्ग्रथितेव चित्रमलकश्रेणीयमेणीदृशः
द्राघीयः श्वसितं तदाहति परिम्लानायमानद्युतो
द्योतन्तेऽधरपल्लवाः स्तनपटस्तेनैव दोधूयते ॥

कृष्ण का छल-गर्भित वचन चमत्कारजनक है और भ्रान्त गोपियों का चित्र हृदयग्राही है। पर 'अर्धार्धम्' में रेफ घटित संयोग तथा 'दोधूयते' यह शब्द प्रकृत रस के अनुकूल नहीं हैं। [रेफघटितसंयोगस्यासकृत्प्रयोगवर्जयेत्०—] यछन्नानि व-त्युगम्नान्यन्यानि च शाब्दिकप्रियाण्यपि मधुररसे न प्रयुञ्जीत (रसगंगाधर)

फिर कृष्ण कहते हैं, अथवा वंशी-श्रवण के कुतूहल से आई हो? यदि यह सत्य है तो तुम्हारा स्वातन्त्र्य अत्यन्त अनुचित है। कुल-कामिनियों को पतिसेवा करना ही उचित है। देखो

इतः फुल्लावल्ल्यो मदमधुपझंकारकलया
गिरा विन्दन्तीव प्रणयनयतः स्वालय इव।
अतः स्थातुं वाञ्छां कुरुत न गृहं गच्छत तथा
तरूणामप्योघः कुसुमहसितैश्चालयति वः॥

इस पद्य में फुल्लावल्ल्यो पद मधुर ही है। दो अलङ्कारों का संयोग कर्णकटु नहीं होता (लकार, मकार और नकार का स्वात्मसंयोग मधुर माना गया है। देखो—रसगंगाधर पृष्ठ ७१)

उदासीन की तरह प्रिय कृष्ण की इस प्रकार बातें सुनने से गोपियों की जो दशा हुई है कवि कर्णपूर उनका चित्र खींचते हैं और अपने कृष्ण की इस प्रकार की रूखी बातों को सुनकर गोपियों के प्राण, जो स्वभाव से ही विशेषतः प्रेम से कोमल हैं, कहीं निकल न जायँ इसलिए आँसुओं ने स्वयं गोपियों का गला रूँध लिया है।

जात्यापि कोमलतराः प्रणयेन चोच्चैरूचोदितेन दयितस्य विसृज्यमानाः
प्राणाः प्रयान्तु न तरामिति जातमात्राः कण्ठं रुरोध सुदृशां स्वयमेव वाष्पः

संतापरूप हलाहल सुन्दर नेत्रोंवाली गोपियों के प्राण लेने के लिए इतना बढ़ा कि समा न सका। किन्तु संतप्त स्तनमण्डलों पर गिरते ही उनमें विलीन हो गया। कवि कहता है कि कज्जल-मिश्रित अश्रुबिन्दु रूप हलाहल विलीन नहीं हुआ, वह मानो अपनी कार्य-सिद्धि न देख कर प्राण लेने के लिए फिर अन्दर घुस गया।

अन्तर्यातुमशक्त एव सुदृशां सन्ताप-हालाहलो
नेत्रैरञ्जनरञ्जिताश्रुलहरीव्याजेन रीणो बहिः।
संतप्तस्तनमण्डलेषु निपतन्मात्रः समादृश्यते
भूयश्चाविशदेव किन्तु हृदयं प्राणापहारोद्यतः॥

रूपक से संताप को हलाहल बना आप द्वारा यह कल्पना की है कि कज्जल-मिश्रित अश्रुओं के व्याज से हालाहल बढ़कर निकल रहा है और संतप्त हृदय पर गिर कर सूख जाता है। शीघ्र विलीन होने से प्राणापहार की उत्प्रेक्षा यद्यपि रमणीय है तथापि इसमें गोपियों का महाप्राणत्व रूप अनौचित्य प्रकट होता है। हमें इसमें प्रथम छन्द की कल्पना सुन्दर लगती है-'प्राणाः प्रयान्तु न तरामिति जातमात्रः कण्ठं रुरोध सुदृशां स्वयमेव वाष्पः।'

कृष्ण और गोपियों के प्रश्नोत्तर परम मनोहर हैं। गोपियाँ कहती हैं कि तुम्हारी वंशीध्वनि वंशी (वंशी मछलियों के पकड़ने का यन्त्र) के समान है। उसमें (ध्वनि से व्यक्त) शृंगार आदि रस मांस के रसीले टुकड़े हैं और उत्तम गुण की डोरियाँ हैं। ऐसी वंशी में हम सबों को खींच कर और कठोर उक्तियों की सीख से घायल कर उपेक्षा की आग में जलाते हो।

वंशीकलेन वडिशेन झषीरिवास्मानाकृष्य सद्गुणजुषा सुरसामिषेण
शूलाकरोषि परुषोक्तिशलाकयैवमाविध्य किम्पुनरुपेक्षणवीतिहोत्रे॥

यहाँ पर 'उपेक्षणवीतिहोत्रे' पद के आगे दहसि क्रिया का होना आवश्यक था। पर ऐसे स्थल पर न्यूनपदता गुण ही है।

क्योंकि इससे गोपियों का सम्भ्रमातिशय सूचित होता है अथवा 'दहसि' अमंगलव्यंजक होने के कारण नहीं कहा गया है।

कृष्ण कहते हैं कि मैं आत्म-विनोद के लिए मुरली बजा रहा हूँ। इससे यदि कुलकामिनियाँ विकल हों तो मेरा क्या दोष ?

अहमात्ममुदामुदारभावैर्मुरलीवादविनोदमातनोमि,
यदितो विकला कुलाङ्गनाः स्युः सकला एव तदत्र मे क्व दोषः।

इसके अतिरिक्त मेरी मुरली दोषयुक्त भी नहीं है। वह सद्वंश (उत्तम वंश अथवा उत्तम बाँस-प्रसूत, अकुटिल (सीधी अथवा कपटरहित), सारयुक्त और स्वभाव से एक पर्व (उत्सव अथवा पोर) वाली है।

सद्वंशभूरकुटिला सहजैकपर्वा सारान्विता च मुरली नहि दुष्यतीयम्

गोपियाँ कहती हैं कि इसकी ध्वनि से एक एक गोपी का नाम लेकर बुलाते हो। यह तुम्हारा ही दोष है।

अस्या कलैर्बत जनं जनमेव नामग्राहं यदाह्वयसि नः स तवैव दोषः।

कृष्ण कहते हैं कि मुरली वायु के सम्मुख होते ही बजने लगती है। मैं नहीं बजाता हूँ। यह स्वयं बुलाती है। तुम सबों का नाम इसे तो मालूम ही है।

मुरली मरुदाभिमुख्ये ध्वनतीयं न मयैव वाद्यमाना,
स्वयमाह्वयतीयमिच्छया वः सकलानामपि नाम नाम वेत्ति।

गोपियाँ कहती हैं कि इसमें अनेक छिद्र हैं (छेद पक्ष में दोष), इसका गात्र कठोर है, हृदय शून्य है, व्यर्थ बकवास करने वाली है और इसकी उत्पत्ति भी उत्तम वंश (वंश, बाँस या कुल) से नहीं है। और यह तुम्हारी वंशी कुल मे कलंक लगानेवाली है; साधुवाद के योग्य नहीं है।

छिद्रैर्युता बहुभिरेव कठोरगात्री, शून्यान्तरातिमुखरा महतो न वंशात्।
जाता परस्य कुलपंककलंककर्त्री वंशी तवेयमिति नार्हति साधुवादम्॥

इस पद्य में अनुप्रास-प्रेम के कारण अथवा छन्दःपूर्ति के लिए ग्रन्थ लिख डाला है। कलंक तो था ही, पंक और कलंक दोनों एक ही आशय को प्रकट करते हैं। अतः दूसरा निरर्थक है।

वसन्तोत्सव

वृन्दावन में वसन्त का शुभागमन हुआ है। चर-अचर, पशु-पक्षी, लता-गुल्म आदि सभी ने वसन्तोत्सव मनाना आरम्भ कर दिया है। चमरीगण ने अपनी पुच्छ से अवनीतल को बुहार दिया है। कस्तूरी मृगों ने गन्ध से सुगन्धित कर दिया है। वृक्षों ने पुष्पों को मकरन्दबिन्दु से सींच दिया है। अलि-अवलि ने गीत गाये और लताएँ नाचने लगीं।

लांगूलैश्चमरीचयेन विपिन-क्षोणीतलं मार्जितं
कस्तूरी-हरिणीगणेन विदधे स्वैःस्वैर्मदैर्वासितम्।
पुष्पाणां मकरन्दबिन्दुनिकरैः सिक्तं द्रुमाणां कुलैः
संगीतानि वितेनिरेऽलिनिवहैर्लास्यानि वीरुद्व्रजैः।

गोकुल-ललनाओं ने वासन्तिक कुसुमों से शरीर को आभूषित किया है। श्रीमती वृषभानुनन्दिनी राधा रानी ने चोटी में नाग-केशर के, माँग में अशोक के और पाटियों में मौलसिरी के फूल गूँथे हैं। कानों में आम्रमञ्जरी और कुचों पर माधवी के फूलों की माला पहनी है। वृन्दावन की अधिष्ठात्री वृन्दादेवी मानों स्वयं राधादेवी को फूलों से अलंकृत कर आनन्दित हुई हैं।

कचौघे पुन्नागं वकुलमुकुलानि भ्रमरके-
ष्वशोकं सीमन्ते श्रवसि सहकारस्य कलिकाः।
स्तनाग्रे वासन्तीकुसुमदलमालेतिकुसुमैः
स्वयं वृन्दा राधां सपरिमुमुदेऽलङ्कृतवती॥

राधा ललिता, चन्द्रावली आदि सखियों के साथ संगीत में मग्न थी। संगीत-देवता मातङ्गी के साथ संगीत-शास्त्र में विनोद विवाद छिड़ रहा था। यकायक दूसरी ओर संगीत-ध्वनि सुनाई दी। देखती हैं कि कृष्ण भगवान् जिनकी आँखें मद से घूम रही हैं, बायें हाथ में बंशी लिये हुए हैं, दाहिने हाथ से कुमकुमा उछाल रहे हैं और वसन्त राग गा रहे हैं। उनके पीछे सुबल आदि मित्र भी उसी राग को अलाप रहे हैं। कृष्ण भगवान् सिर हिला हिलाकर गाते क्या हैं मानो रस बरसा रहे हैं। दोनों तरफ से (यानी बाईं और दाहिनी तरफ से) दो मित्र पान--जिनमें सोने के वर्क लगे हुए हैं--दे रहे हैं। श्रीकृष्ण उनको अरुण अधरों से ग्रहण कर रहे हैं।

वेणुं वामकरेण दक्षिणकरेणान्दोलयन् कन्दुकं
सैन्दूरं न विदूरयन् वदनतो रागं वसन्ताभिधम्।
उद्गीते सुबलादिभिः प्रियसखैः श्रीमूर्द्ध-निर्धूननैः॥
नास्वादं प्रथयन् मदालसलसद् घूर्णायमानेक्षणः॥
पार्श्वद्वये प्रियसखद्वय-दीयमानं ताम्बूलिकादलपुटं पुरट प्रकाशि।
स्निग्धेन शोणरदनच्छदनद्वयेन लीलाक्रमादुभयतः कुतुकेन गृह्णन्।

कानों में चमचमाते हुए कुण्डल पहने हुए हैं, जिनकी कोर से लौर में छिद्र बढ़ गया है। उसमें ताजी तोड़ी मौर की बाली (मंजरी) पहन ली है, जिसके प्रतिबिम्ब पड़ने से कपोल प्रदेश पर एक अपूर्व कान्ति शोभित हो रहा है। ग्रीवा पर त्रिलास-बद्ध केश-राशि लहरा रही है। उनमें अतिमुक्त के कुसुमों की माला गुही हुई है।

वलगद्वल्गुमणीन्द्रकुण्डलधुरा दीर्घीकृतच्छिद्रयोः
विभ्रत्तत्क्षणभुग्न-चूतमुकुलं श्रीकर्णयोरेकतः।

गण्डेन प्रतिबिम्बभाजि मधुरां काञ्चित्विषो मञ्जरीम्,
ग्रीवा सीम्नि विलासबद्धचिकुरस्तोमेऽविमुक्तस्रजम् ।

कृष्ण के नटवर-वपु में कवियों ने मोर-मुकुट का ही वर्णन किया है। कवि कर्णपूर पगड़ी का भी वर्णन करते हैं। कृष्ण ने शिर पर उज्ज्वल कोमल पगड़ी तिरछी धारण की है, जो एक तरफ लहराते हुए काकपक्षों से और पुन्नाग के पुष्प-गुच्छों से—जिन पर भौंरे गुनगुना रहे हैं—अलंकृत हो रही है। पगड़ी की स्वाभाविक उज्ज्वलता (पुष्पगुच्छों के) अरुण पराग से हलके गुलाबी रंग में रंग रही है। मस्तक पर बाल बल खा रहे हैं।

एकेनैव शिखण्डकेन चलता, रोलम्ब सम्भाषिणा,
पुन्नागस्तवकेन चारुणरजः पूरेण चालंकृतम् ।
तिर्य्यङ्न्यासविशेषशोभमलिक प्रान्तावलम्बालकं
शुभ्रोष्णीषमनापदुज्ज्वलमतिश्लक्ष्णं शिरस्यादधत् ।

कवि की वर्णनशैली सजीव है। कृष्ण की मूर्ति मूर्तिमती हो आँखों के सामने दिखलाई पड़ती है। कर्णपूर की कल्पना-शक्ति को धन्य है।

सखियों के साथ राधा कामदेव की पूजा कर रही हैं। कृष्ण का मित्र कुसुमासव आता है। कहता है—अरी ! तुम सब क्या बावली हो गई हो ? साक्षात् विद्यमान कृष्ण को छोड़कर अविद्यमान काम की पूजा कर रही हो ! मैं स्वस्तिवाचनपूर्वक पूजा करवाऊँगा। राधा ने कहा—ललिता, यह ब्राह्मण पूज्य है। प्रथम इसी की पूजा होनी चाहिए। राधा का इतना कहना था कि उस पर केसर रंग की पिचकारियाँ चलने लगीं। अबीर गुलाल बरसने लगा। कुसुमासव चिल्लाता रहा—हाय मैं मरा, दौड़ो, बचाओ। वसन्तोत्सव में मतवाली गोपियों ने मुझे अबीर और गुलाल से अंधा कर डाला तथा सुगन्धित जल से जड़ बना डाला। मैं यहाँ

से चलने में भी असमर्थ हूँ। जल्दी आओ, नहीं तो ब्रह्म-हत्या हो जायगी।

उन्मत्ताभिर्वसन्तोत्सवरभसमदैर्गोदुहां कन्यकाभिः
क्षोदैः सिन्दूरकाश्मीरकमलरुहाँ हा ! धिगन्धीकृतोऽस्मि;
जाड्यं गन्धाम्बुसेकैरजनि तत इतो धावितुं नास्मि शक्तो
व्यापद्येऽहं वयस्य प्रियसखमव मां मास्त्विह ब्रह्महत्या ॥

फिर क्या था, कृष्ण-दल और राधा-दल में युद्ध होने लगा। दोनों ओर से कोमल, स्निग्ध, सुगन्धित, लाल और गुलाबी धूलि फेंकी जाती थी। कामदेव के वारुणास्त्र की भाँति पिचकारियों से सुगन्धित केसर का रंग बरसता था और कुमकुमे चलते थे।

शोणश्लक्ष्णारुणसुरभिभिर्धूलिभिर्धूलिभिश्च
क्रीड़ायुद्धं समजनि महत्कन्दुकैः कंदुकैश्च ।
शृंगोन्मुक्तैः कुसुमधनुषो रुणास्त्रैरिवारात्
काश्मीरीयैरतिसुरभिभिर्वारिभिर्वारिभिश्च ॥

अबीर और गुलाल की धूलि हल्की होने से पृथ्वी पर न गिरती थी, बल्कि आकाश में ही उड़ती थी, जिससे ऐसा गाढ़ अन्धकार छा गया था कि अपना और पराया न सूझता था। उसी समय कृष्ण का वेणु शत्रुसमूह में बज उठी।

न पतति लघुभावाद् घूर्णाति व्योम्नि तस्मिन्
रजसि तमसि गाढं जायमाने मुहूर्तम् ।
न परिचयमवापत्क्वापि कस्यापि कश्चित्
तदनु स पर चक्रे कृष्ण वेणुर्व्यराणीत् ॥

यह घोर अन्धकार जब तक शान्त न हुआ, तब तक जल्दी से जल्दबाज कृष्ण ने पतली कमरवाली गोपियों के झुण्ड को

वैसे ही मसल डाला जैसे मतवाला हाथी कमलिनीसमूह को मसल डालता है।

तिमिरमिदमनल्पं नैव यावद् व्यरंसीत्
अतिलघुहस्तस्तावदेवैकवीरः।
व्यतनुत तनुमध्या व्यूहमालोड्यमानं
मदकलकलभेन्द्रः पद्मिनीनामिवौघम्॥

उदाहृत छन्दों में कवि ने वीर और शृंगार का कैसा मधुर मिश्रण किया है। निम्नलिखित पद्य में वीर और शृंगार तथा वीभत्स का मिश्रण प्रपानक की भाँति कितना आनन्द दे रहा है —

छिन्नानां मृगलोचनाचयचमूमानद्विपानामिव
क्षोणी सान्द्रतजैरभूदरुणिता स्निग्धारुणैः पांसुभिः।
भृंगघ्रातमदैरिवासमलिना कास्तूरिकाकर्दमै-
राकीर्णाऽजनि कीकसैरिव परिभ्रष्टैर्मणीशृंगकैः।

मृगनयनी गोपियों की सेना में मानरूपी हाथी काट डाले गये हैं। अबीर और गुलाल से पृथ्वी लाल हो गई है। वह मानों उनके रुधिर से लाल हो गई है। कस्तूरी के कीचड़ से पृथ्वी काली हो गई है। वह मानों उनके भृंग-चुम्बित मद के कीचड़ से हो गई है। इधर-उधर पड़ी हुई मणिमयी पिचकारियाँ मानों उनकी हड्डियाँ हैं।

हल्लीसक-नृत्य

ऊपर कहा जा चुका है कि कर्णपूर बंगाली भावुक सहृदय कवि हैं। उनकी प्रकृति सुकुमार है। तब कोई आश्चर्य नहीं कि उनका झुकाव ललित कलाओं की ओर हो। चम्पू के बीसवें

स्तवक में हल्लीसक (स्त्री-नृत्य) का वर्णन है। इस अवसर पर उन्होंने साङ्गोपाङ्ग संगीत पर अच्छा प्रकाश डाला है। पाठक उसका भी कुछ नमूना लें।

यमुना के अतिधवल पुलिन (जो कर्पूर की क्यारियों की तरह चमक रहा है) पर गोपी-मण्डल ने रास आरम्भ किया। उनके मध्य में रसिक-शिरोमणि भगवान् कृष्ण है। उस समय हस्ताध्याय, वाद्याध्याय, ध्रुवगान आदि की अधिष्ठात्री देवियाँ तथा राग-रागिणियाँ मूर्तिमती होकर उपस्थित हुईं, जिन पर मण्डली ने अनुग्रह किया। फिर क्या था, ७ स्वर, वादी, संवादी तथा अनुवादी नामक चार प्रकार के उनके भेद, २१ श्रुतियाँ, ३ ग्राम, २१ मूर्छनाएँ, ३१७९ तान; १८ जातियाँ. पूर्ण, वाडव और औडव भेदों से तीन प्रकार के राग, पुनः शुद्ध संकीर्ण सालग आदि भेदों से पच्चास प्रकट हुए।

सप्त स्वरा[1] सदनुवादिविवादिसंवादिनः स्थलवशेन चतुर्विभेदाः ताश्चैकविंशतिरपि श्रुतयो[2] यथास्वं ग्रामास्त्रयः[3] श्रुति सभा अथ मूर्धनाश्च[4]।

---

[1]षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सात स्वर हैं।

[2]श्रुति उस विशेष शब्द का नाम है जो स्वरों के आरम्भव अवयवों से बना हो। "प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः। सा श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा।"

[3]ग्राम तीन होते हैं—षड्जग्राम, मध्यमग्राम तथा गान्धारग्राम।

[4]स्वरों के आरोह और अवरोह (चढ़ाव-उतार) को मूर्छना कहते हैं। मूर्छनाएँ २१ होती हैं।

त्रिलक्षी तानानां[१] नवशतयुतैः सप्तदशभिः
सहस्रैर्युक्ताष्टादशपरिचिता जातिभिरपि[२]
त्रिधा रागा पञ्चाशदथ परिपूर्णादिमिदभि
विशुद्धा संकीर्णा अपि बहुविधा प्रादुरभवन्।

श्रुतियों से उत्पन्न मूर्छनाओं और पन्द्रह गमकों (स्वरों के कम्पों) की व्यक्ति कण्ठ-प्रदेश से नहीं होती इसलिए ब्रह्मा ने चल और अचल वीणाओं का सर्जन किया। आश्चर्य है! आश्चर्य है! इस रास-लीला में इन वीणाओं में श्रुति आदि की परीक्षा गोपियों ने कण्ठ से ही की। उसके बाद ध्रुव लक्षण-वाले और मण्ठ लक्षणवाले दोनों सूड(सूड प्रबन्ध गान हैं) और उनकी विविध विषम गतियाँ शोभित हुईं।

ध्रुवलक्षणमण्ठलक्षणावथ सूडावपि शुद्ध सालगौ
विविधा वियमागतिस्तयोः तत एतावपि रेजतुस्तदा।

तत्पश्चात् प्रबन्धमान में मण्डलाकार गोपियाँ 'थै थै थै थै तिगड़ तिग थै थ' इस पाठ की अनुकृति से पृथ्वी पर पदतल को और आकाश में भुजलता को रखती हुई एक बार वामावर्त में और एक बार दक्षिणावर्त में सरस मधुर नाचती हुई बड़ी ही सुन्दर लग रही थीं।

---

[१]तानें ४६ प्रसिद्ध हैं किन्तु ग्रन्थकार ने ३१७६ लिखी हैं। प्रसिद्ध टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इन बढ़ी हुई संख्याओं के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रमाण में लिखा है—'मूर्छना एव तानाः स्युः शुद्धा आरोहणाश्रिताः। तेषां भूरितरा भेदाः कस्तान् कात्स्न्येन वक्ष्यति' अर्थात् शुद्ध मूर्छनाएँ ही आरोह के आश्रित हो तानें बन जाती हैं। उनके अत्यधिक भेद हैं, उनको कौन कहेगा?

[२]जिनसे राग उत्पन्न होते हैं वे जातियाँ कहलाती हैं, जिनमें ७ शुद्ध और ११ विकृत होती हैं। इस प्रकार उनकी संख्या १८ है।

थै थै थै थै तिगडतिगथै थेति पाठानुकृत्या
विन्यस्यन्त्यो भुवि पदतलं दोर्लतामन्तरिक्षे ।
वामावर्तं सकृदथ सकृद्दक्षिणावर्त एव-
नृत्यन्त्यस्ता सरसमधुरं मण्डलस्था विरेजुः ।

कर्णपूर कवि ने इस स्तवक में गाने और नाचने का बहुत विशद वर्णन किया है जिससे पता चलता है कि उन्होंने संगीत-शास्त्र के ग्रन्थों का केवल अध्ययन कर उसके सिद्धान्त ही नहीं जान लिये हैं अपितु उसमें अभ्यास कर क्रियात्मक ज्ञान को भी अर्जित किया है। बंगाल में नृत्य-कला का आदर रहा है। स्वयं महा-प्रभु चैतन्य कृष्ण-प्रेम में विभोर हो कीर्तन के समय नृत्य करते थे। सम्भव है कि कवि कर्णपूर कवि की भाँति कुशल नर्तक भी हों। उनके वर्णन किये हुए नृत्यों के उदाहरण से लेख बहुत बढ़ जायगा। इसके अतिरिक्त नृत्य-वर्णन की बारीकियों को कोई संगीत-मर्मज्ञ नर्तक ही समझा सकता है, हमारे जैसे नृत्य-कलान-भिज्ञ लेखक नहीं। कवि नर्तक न भी रहा हो तो यह मानना पड़ेगा कि वह गायक और नर्तकों के सम्पर्क में अवश्य रहा है। राधा-नृत्य के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—राधा, जिनके स्तन और जानु दीर्घ और विस्तृत हैं, पैर की अँगुलियों से भूतल का सहारा लेती हुई एँड़ियों को ऊँचा कर उन पर बैठी हैं। विशाल वक्ष-स्थल को ऊँचा करने से उदर की त्रिबलियाँ मिट गई हैं; (पूरक श्वास लेने से) नीवी शिथिल हो गई है, मुट्ठी बँधे हाथों के अँगूठे को स्तन-देश पर रखकर ताल की अनुकृति से आभूषणों को बजाती हुई 'त थ त थै थै त थै थै' बोल रही हैं।

पादाङ्गुल्या क्षितितलमलघुस्फारवक्षोजजानुः
पार्ष्णिद्वन्द्वोपविष्टा ह्रसितवतिनभन्नीविविस्तीर्णवक्षाः ।
अङ्गुष्ठौ बद्धमुष्ट्योः कुचभुवि करयोर्न्यस्य तालानुकृत्या-
लङ्कारान् कूजयन्ती गदति तथतथै थै तथै थेति थेति ॥

युक्तानां कण्ठतन्त्रीचयसुषिरघनानद्धवाद्यैकतायां
पश्चात्सख्यं सरागद्भुजतलमदती चारु ताम्बूलवीटीम् ।
भ्रश्यन्मञ्जारबंधे प्रणयिपरिजनोपान्तपादा समन्तात्
अञ्चल्या वीज्यमाना श्वसितचलकुचा सा विशश्राम रामा ।

हम साहित्यिक दृष्टि-कोण से आनन्दवृन्दावन चम्पू की संक्षिप्त समालोचना कर चुके। उस पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने से पता चलता है कि उस समय वैष्णव धर्म्माचार्यों ने जिस राधा-कृष्ण का उपासना का प्रचार किया था उसमें राधा स्वकीया रूप में ही थीं। चौदहवीं शताब्दी में उत्पन्न बंगाली कवि चण्डीदास और विद्यापति ने राधा को पर-पत्नी लिखा है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में वर्णन है कि राधा रायण गोप की वधू थीं। पर आनन्दवृन्दावन-चम्पू में राधा वृषभानु-दुहिता और कृष्ण-प्रेयसी के रूप में ही अङ्कित हैं। इसमें राधा महानन्दमो आनन्दिनी तथा लीला रूप में निरूपित की गई हैं। महाकवि कर्ण-पूर चण्डीदास और विद्यापति से परवर्ती हैं, तो भी उनकी रचनाओं का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, जिसके कारण पर हमें विचार करना है।

पुराणों में गोपियाँ पर-वधू रूप में ही वर्णित हैं। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—'कृष्ण भगवान् साक्षात् परब्रह्म हैं। उनका अवतार लीलामय है। उनके सभी कार्य अलौकिक हैं। गोपियाँ उनको प्रिय[1] और ईश्वर दोनों मान कर प्रेम करती थीं।

---

[1]कामाद् द्वेषाद्भयात् स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः,
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः।
गोप्यः कामाद्भयात् कंसाद् द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो॥—
श्रीमद्भागवत, सप्तम स्कन्ध

ईश्वर की तन्मयता मुक्ति का कारण होती है—वह चाहे किसी भाव से हो। इस प्रकार गोपीप्रेम की व्याख्याकर पुराणों ने समाज में पातिव्रत-धर्म के संरक्षण का प्रयत्न किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि जब सन्तोष नहीं हुआ तब धर्माचार्यों ने आराधना में राधा को परपत्नी-रूप में नहीं रक्खा। इस प्रकार सीताराम की भाँति राधा-कृष्ण के विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम का वर्णन कर गोपी-प्रेम में लौकिक दृष्टि से जो औपपत्य का कालुष्य था, उसे धो डाला। कर्णपूर कवि महाप्रभु चैतन्य-देव* के सम्प्रदाय के और उन्हीं के शिष्य थे। राधा-सम्बन्धी उपदेश उनको उन्हीं से प्राप्त हुआ है। इसी युग में उत्पन्न श्री वल्लभाचार्य के शिष्य सूरदास ने भी सूरसागर में राधा-कृष्ण के अनिर्वचनीय प्रेम का वर्णन किया है। उसमें वह वृषभानु की कन्या ही हैं, अन्य किसी गोप की वधू नहीं। बाल्यावस्था से ही वह कृष्ण के प्रणय में आमूलचूल मग्न रहीं और अपने को निछावर कर दिया। हमारे अनुमान की पुष्टि गर्गसंहिता से—जो कि इसी काल की बनी हुई मालूम होती है—भी होती है, जिसमें

---

* बहुत दिन हुए, प्रयाग के पण्डित वेंकटेशनारायण तिवारी ने 'राधा' पर सरस्वती पत्रिका में कई लेख लिखे थे। हिन्दी-संसार उनसे परिचित है। तिवारीजी ने निम्नलिखित बातों को प्रतिपन्न करने की चेष्टा की है।

१. चौदहवीं शताब्दी के बाद हिन्दू-धर्म ने पातिव्रत के समान उपपति की आराधना को महत्त्व दिया। २. महाप्रभु गौरांग-देव ने राधा ही के परकीयात्व को बेहद बढ़ाया। ३. बंगाली समाज राधा के परकीयात्व का ही समथक है। पर आनन्दवृन्दावन चम्पू के अध्ययन से आपकी स्थापनाएँ निर्मूल सिद्ध होती हैं। कर्णपूर से अधिक गौराङ्गदेव के सिद्धान्तों के जानने का अधिकारी और कौन हो सकता है। उनके

लिखा हुआ है कि पितामह ब्रह्मा[1] ने पुरोहित बनकर राधा का विवाह करवाया।

भारतीय आर्य-साहित्य सदा से पातिव्रत-धर्म का प्रतिपादक रहा है। रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में सीता, सावित्री तथा उमा के उदात्त चरित इसके जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। हम देखते हैं कि उत्तर-काल के वैष्णवों ने गोपियों को छोड़ कर अपने-अपने काव्यों में राधा को ही स्थान दिया है और उसी चिरन्तन आदर्श की रक्षा की है।

———

सम्बन्ध में कर्णपूर का लिखा हुआ साहित्य ही जिसका दृढ़तर प्रमाण है। यदि वह राधा को परकीया बतलाते तो कर्णपूर निस्संकोच होकर वैसा ही लिखते।

[1]*तदा स उत्थाय विधिर्हुताशनं प्रज्वाल्य कुंडे स्थितयोस्तयोः पुरा।*
श्रुतेः कर-ग्राहविधं विधानतो विधाय धाता समवस्थितोऽभवत्॥
(गर्ग-संहिता)

११—संस्कृत के कवि और वर्षा

निरन्तर एक ही सा मौसम रहने से कहीं प्राणी उकता न जायँ--इसी से मानों अनन्त लीलामय के विश्व-प्रपञ्च में परिवर्तनशील षट् ऋतुओं का विकास हुआ है। इन षट् ऋतुओं में वर्षा भी कैसी सुन्दर ऋतु होती है। इस ऋतु में मेघ-माला-मण्डित महीध्र-कुल, शस्य-श्यामला धरित्री, पत्र-कुसुम-फलावनत तरुपुञ्ज, एवं लहरी-लीला-ललित सर-सरिता और गिरि-निर्झर अपने अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। वर्षा की अवर्णनीय महिमा से मानव ही नहीं, वरन् पशु-पक्षी, स्थावर-जङ्गम और लता-गुल्म-वनस्पति भी सरस नवीन जीवन धारण कर लोकोत्तर आनन्द का उपभोग करते हैं। समस्त संसार आनन्दमयी एवं लावण्यमयी लहरों में लहराता हुआ दीखने लगता है। प्रत्येक प्राणी के मानस में भिन्न भिन्न भावों का सञ्चार होता है; परन्तु अखिल प्राणियों में मनुष्य ही ज्ञानवान् होता है। अतएव जब उसे सौन्दर्यमयी प्रकृति के मनोहर दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं तब उनका अनुभव करके वह उन्हें अभिव्यक्त करता है। यदि अभि-व्यञ्जक कवि है तो वह उन्हीं भावों को कवित्वकला के योग से सजीव कर देता है। 'वार्षिकी' प्रकृति के मंजुल दृश्यों के निरीक्षण से हमारे प्राचीन कवियों के हृदय में कैसे भाव आविर्भूत हुए, उनके उत्कर्ष से उन्होंने कवित्व-कौशल का कितना परिचय दिया और उनमें कितनी प्रकृति-पर्यवेक्षण-पटुता है इत्यादि बातों का यत्किञ्चित् परिचय संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध छः कवियों की कविताओं से यहाँ दिया जाता है।

संस्कृत के आदिकवि भगवान् वाल्मीकि ने रामायण के किष्किन्धा काण्ड में विप्रलम्भ शृंगार-पोषक और उद्दीपन विभाव-भूत वर्षा ऋतु का अत्यन्त सरस और स्वाभाविक वर्णन किया है। शरद् ऋतु की प्रतीक्षा करते हुए सीता-विरह-विधुर राम 'प्रस्रवण' गिरि पर अवस्थान किये हुए हैं। वे लक्ष्मण से कह रहे हैं,—देखो, वर्षा ऋतु का समय आ गया है। पहाड़ों के समान घन-घोर घटाओं से आकाश आवृत है।

"अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः।
संपश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसन्निभैः"।

वैदिक विज्ञान में यह प्रसिद्ध है कि (याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति) जिन किरणों से सूर्य तपता है उन्हीं से पर्जन्य बरसता है। वाल्मीकिजी ने इस अनूठे भाव-बिन्दु को समासोक्ति सीपी में गिरा कर कैसा अच्छा मोती बनाया है और उसे कविता देवी के श्री चरणों में अर्पित किया है।

"नवमासधृतं गर्भमाकाशस्य गभस्तिभिः।
पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्"॥

अर्थात् आकाश ने सूर्य की किरणों से समुद्र के रस को पीकर नव मास पर्यन्त गर्भ धारण किया और अब वर्षा में रसायन (षट् रसों के कारण भूत) जल को उत्पन्न किया। प्रस्तुत द्यौवृष्टि से अप्रस्तुत अनेक नायिकाओं का नव मास तक गर्भ धारण करना और उनसे प्रेमास्पद पुत्रों की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है।

"मन्दमारुतनिश्वासं सन्ध्याचन्दनरञ्जितम्।
आपाण्डु जलदं भाति कामातुरमिवाम्बरम्"॥

आकाश कामातुर विरही-सा शोभित हो रहा है। उसका मेघमय शरीर विरह-पाण्डु हो गया है। जो मारुत मन्द मन्द

बह रहा है मानो वही उसका निश्वास है। मानो सन्तापहारी शीतोपचार के लिए उसने सायंकालीन अरुणिमा का चन्दन लगाया है।

अपनी ही तरह सभी को विरही देखने से राम की कितनी विरह-प्रबलता सूचित होती है। रूपकानुप्राणित उत्प्रेक्षा मर्म-तलस्पर्शिनी है।

> *"एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।*
> *सीतेव शोकसन्तप्ता मही वाष्पं विमुञ्चति"॥*

आँसुओं से भीगी, शोक से विकल, मैथिली की भाँति ग्रीष्म-सन्तप्त भूमि नवीन जल से सिक्त हो उच्छ्वास छोड़ रही है। पृथिवी की उपमा विरहिणी मैथिली से देना कितना औचित्य-पूर्ण है।

> *सुरतामर्दविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिकाः।*
> *पतन्तीवाकुला दिक्षु तोयधारास्समन्ततः॥*

सम्पूर्ण दिशाओं में जलधाराएँ गिर रही हैं। यह दृश्य ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों रति-क्रीड़ा में स्वर्गीय महिलाओं के हार-मौक्तिक टूट टूट कर बिखर रहे हैं।

आकाश से बरसते हुए जलबिन्दुओं से रमणियों के टूटे हुए हार के मोतियों की उत्प्रेक्षा कितनी हृदय-हारिणी है?

> *'नवाम्बुधाराहतकेसराणि द्रुतं परित्यज्य सरोरुहाणि।*
> *कदम्बपुष्पाणि सकेसराणि नवानि हृष्टाः भ्रमराः पतन्ति'॥*

नवीन अम्बुधारा से जिनका किञ्जल्क धुल गया है ऐसे कमलों पर से उड़ कर भौंरे किञ्जल्कवाले नवीन कदम्ब-पुष्पों पर जा बैठते हैं।

कदम्ब के कुसुम वर्षाकाल के ही कुसुम हैं। वर्षा ऋतु में जल के बरसने पर उनमें किञ्जल्क पैदा होता है और कमल वर्षा ही में नहीं किन्तु अन्य ऋतुओं में भी होते हैं। नवीन जल-बिन्दु कमल के किञ्जल्क का जनक नहीं होता है। इसलिए जल-बिन्दुओं से कमल का किञ्जल्क धुलता है पर कदम्ब का नहीं। इसी भाव को झलकाने के लिए कवि ने नवाम्बुधारा में नव-पद लगा दिया है।

'रसाकुलं षट्पदसन्निकाशं प्रभुज्यते जम्बुफलं निकामम्।
अनेकवर्णं पवनावधूतं भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्' ॥

वर्षा ऋतु में रस से भरे हुए भौंरे की भाँति काले काले जामुन लोग खूब खाते हैं और विविध रंगवाले पके आम हवा से टूट टूट कर पट पट गिरते हैं।

इन दो पद्यों में 'स्वभावोक्ति अलङ्कार' कैसा चमत्कार दिखा रहा है। घटना मूर्तिमती होकर आँखों के सामने अपने आप नाच उठती है।

'मार्गानुगः शैलवनानुसारी सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य।
युद्धाभिकामः प्रतिनागशंकी मत्तो गजेन्द्रः प्रति सन्निवृत्तः ॥'

मतवाला हाथी किसी पहाड़ी जंगल को जा रहा था। रास्ते में मेघ की गर्जना सुन कर वह दूसरे हाथी के भ्रम से लड़ने को लौट पड़ा।

यह श्लोक भ्रान्तिमान् का उत्तम उदाहरण है—

'वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भांति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनांता
प्रियाविहीनाश्शिखिनः प्लवङ्गाः' ॥

नदियाँ बह रही हैं, बादल गरज रहे हैं, मतवाले हाथी चिंघाड़ रहे हैं, वन-प्रदेश सुहावना लग रहा है, वियोगी अपने प्रिय का ध्यान कर रहे हैं, मयूर नाच रहे हैं, और बन्दर आनन्द मना रहे हैं।

"षट्पादतंत्री मधुराभिधानं
लवङ्गमोदीरितकण्ठतालम्।
आविष्कृतं मेघमृदंगनादै-
र्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम्" ॥

भ्रमरावली तन्त्री है। उसका मधुर गुञ्जार तन्त्री का मधुर स्वर है। मण्डूकों का निनाद कण्ठ-ताल का काम दे रहा है। मेघरूप मृदंगों की मधुर ध्वनि हो रही है। ऐसा जान पड़ता है मानों वन में संगीत आरम्भ हुआ हो।

पाठकगण! आप लोगों ने वर्षा ऋतु में देखा होगा कि बक-पंक्तियाँ बादलों के पास मँडराया करती हैं, किन्तु बड़े चाव से मँडराने का कोई दूसरा हेतु हैं। 'कर्णोदय' ग्रन्थ में लिखा है-- 'गर्भं बलाका दधतेऽभ्रयोगान्नाके निबद्धावलयः समन्तात्'—जब मादा बक आकाश में उड़ती हैं तब मेघ के योग से वे गर्भ धारण करती हैं। प्रकृति-निरीक्षण-पटु कवि इस प्रसंग का कैसे अनूठे ढंग से वर्णन करता है :—

"मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती, सम्मोदिता भाति बलाकपङ्क्तिः।
वातावधूतावरपौण्डरीकी लम्बेव माला रचिताम्बरस्य" ॥

सम्मिलन को चाहनेवाली मेघ की प्रेमिकाएँ, श्वेत बक-पंक्तियाँ उत्तम वस्त्रों से सजे-सजाये किसी शृंगारी की पवन से हिलती हुई श्वेत कमलों की माला सी शोभित हो रही हैं।

"बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।
गात्रानुवृत्तेन शुकप्रभेव नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन" ॥

बीच बीच में महौरी रंग से रँगी हुई, तोते के पङ्ख जैसी हरी शाल ओढ़े हुए मानों कोई कामिनी शोभित हो रही है। बीच बीच में वीर-बहूटियों से चित्रित नवीन हरित तृणांकुरों से वनस्थली की शोभा ठीक ऐसी ही है—

"घनोपगूढं गगनं सतारं न भास्करो दर्शनमभ्युपैति।
नवैर्जलौघैर्धरणी विसृप्ता तमो विलिप्ता न दिशः प्रकाशाः" ॥

आकाश दिन-रात बादलों से छिपा रहता है। सूर्य तो कभी नहीं दिखलाई देता। पृथ्वी पानी से परिपूर्ण ही रहती है और दिशाएँ आकाश से आच्छादित रहती हैं। प्रकाश का तो कहीं नाम ही नहीं।

अच्छा, जब सूर्य किसी समय नहीं दिखलाई देता था तब लोग सूर्यास्त की बेला कैसे जानते होंगे? उसके जानने का उपाय वाल्मीकिजी ने इस तरह बतलाया है—

"निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः" ॥

घोंसलों में बसेरा लेती हुई चिड़ियों, मुँदे हुए कमलों एवं खिली हुई मालती से सूर्यास्त की बेला जान ली जाती थी।

पाठकों को उपर्युक्त कविता के पढ़ने से भली भाँति मालूम हो गया होगा कि वाल्मीकिजी की रचना में 'वैदर्भी रीति', 'प्रसाद गुण' एवं 'स्वभावोक्ति-अलङ्कार' का कितना बाहुल्य है।

आदिकवि की सरणी का अनुसरण करते हुए महाकवि कालिदास ने, कुबेर-शाप से अपनी प्रियतमा से बिछुड़े हुए, किसी यक्ष की मानसिक वृत्ति को लक्ष्य करके विप्रलम्भ शृङ्गार-विषयक मेघदूत-काव्य की रचना की है। उन्होंने मेघ को सन्देशवाहक बनाकर अपने काव्य में वर्षा ऋतु का बहुत ही हृदयग्राही वर्णन

किया है। वाल्मीकिजी के नायक श्रीरामचन्द्र जी की भाँति यक्ष भी 'अबलाविप्रयुक्त' है। आदिकवि की ही भाँति कालिदास का भी पर्वत और जंगल के दृश्यों को चित्रित करना वर्णनीय विषय है। कालिदास की कवित्व-प्रतिभा वर्षा-वर्णन में कितनी उन्मेषित हुई है, यहाँ विस्तारभय से उसका दिग्दर्शन-मात्र पाठकों को कराया जाता है—

"आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्
वप्रक्रीड़ापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श" ॥

आषाढ़ के प्रथम दिवस में यक्ष ने रामगिरि की चोटियों को ढके हुए मेघ को इस धज से देखा मानों कोई मतवाला हाथी अपने तिरछे पैने दाँतों से खेल कर रहा हो।

रंग-बिरंगे धनुष से चित्रित श्याम मेघ की गोप-वेषधारी श्याम सुन्दर के शरीर से उपमा कितनी मनोहारिणी है! यक्ष कहता है—हे मेघ! पद्मरागादि मणियों के प्रभा-पटल के मिश्रण के समान बाँबी से जो इन्द्रधनुष निकलता है उससे तुम्हारा शरीर उज्ज्वल और चन्द्रिका धारण किये हुए गोप-वेषधारी कृष्ण भगवान् के कृष्ण कलेवर की कान्ति को धारण करेगा। वर्षा ऋतु में कदम्ब कुसुमित होते हैं, कन्दलिका मुकुलित होती है और पृथिवी से उत्कट गंध निकलती है।

यक्ष मेघ से कहता है—अधउगे केसर से हरे-काले-पीले कदम्ब के फूलों को देखकर तथा जल-प्रदेश की मुकुलित कन्द-लिका को खाकर एवं पृथिवी की उत्कट गन्ध को सूँघ कर सारंग (हाथी, हिरन या भौंरे) तुम्हारा मार्ग सूचित करेंगे।

इसी भाव का एक श्लोक रघुवंश में भी है। लङ्का से लौटे हुए रामचन्द्रजी सीता से कहते हैं:—

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्‌गतकेसरञ्च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुः यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ।

धाराओं से आहत पल्वलों (छोटी छोटी तलैयों) की गन्ध, अधउगे केसरवाले कदम्ब के कुसुम और मयूरों की बोली तुम्हारे बिना मुझे अतीव असह्य हुई।

आदिकवि के वर्षा-विषयक पद्यों में और मेघदूत के पद्यों में कहीं कहीं भावसादृश्य पाया जाता है। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

'मेघाभिकामा परिसंपतन्ती'...इस श्लोक में आदिकवि ने बकपङ्क्तियों को मेघों की प्रेमिका होने का उल्लेख किया है। कालिदास ने भी उसी भाव को 'नूनमाबद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः' (यक्ष कहता है, बकपङ्क्तियाँ आकाश में तुम्हारी सेवा करेंगी। प्रिय होने से तुम उनकी आँखों को बड़े सुन्दर लगते हो) में दिखलाया है। वाल्मीकि ने 'सुरता-मर्दविच्छिन्ना....' में आकाश से गिरे हुए जलबिन्दुओं से काम-केलि में टूटे हुए मोतियों की उत्प्रेक्षा की है। कालिदास ने भी "या वः काले वहति सलिलोद्‌गारमुच्चैर्विमानैर्मुक्ताजालग्रथित-मलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्" (अलका पुरी वर्षा काल में सात-सात मञ्जिलवाले मकानों से सलिल-धारा बरसानेवाले मेघ-मण्डल को मोतियों से गूँथी हुई अलकों के समान धारण करती हैं)में जलधाराओं की मोतियों से उपमा दी है। "प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान्" (वर्षा काल में पथिक अपने अपने देश को जाते हैं) इस श्लोक के भाव को कालिदास ने 'यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतामध्वगानाम्, मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षो-त्सुकानि" (मार्ग में थके हुए पथिकों के समूह को मेघ मन्द्र स्निग्ध ध्वनि से जाने के लिए प्रेरित करता है) में अभिव्यक्त किया

है। "निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति" से वाल्मीकिजी बतलाते हैं कि विष्णु भगवान् वर्षा काल में शेषशायी होते हैं और शरद् में उठते हैं। कालिदास भी वही बात "शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ" में व्यक्त करते हैं।

भक्ति-प्रधान श्रीमद्भागवत ग्रन्थ के दशम स्कन्ध में वर्षा का वर्णन विलक्षण रीति से किया गया है। उसमें उपमालङ्कार द्वारा प्रत्येक वर्षाविषयक घटना के साथ तत्त्वज्ञान का समावेश किया गया है। भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में इसी पद्धति का अवलम्बन किया है। पर सबसे अधिक चमत्कार तो यह है कि जिस तरह दार्शनिक और पौराणिक होते हुए भी आपकी सहृदयता नष्ट नहीं हुई उसी तरह प्रस्तुत विषय की सरसता को गहन दार्शनिक तत्त्वों से उपमा देने में आप सफल रहे। वर्षा-विषयक कुछ उदाहरण भागवत से यहाँ दिये जाते हैं :—

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ॥

बिजली और उसकी कड़क के सहित सान्द्र और नीले मेघ से आच्छादित आकाश में सूर्य, नक्षत्र आदि कोई भी नहीं दिखलाई देते थे। वह जीव नामधारी सगुण ब्रह्म की तरह शोभित होता था। बिजली की सत्व से और उसकी कड़क की रजोगुण से एवं नीले मेघों की तमोगुण से उपमा दी गई है।

"अष्टौ मासान्निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते॥"

सूर्य ने आठ महीने तक जो उदकमय वसु (धन) लिया था उसे, समय आने पर, उसने फिर देना आरम्भ किया। इसमें भी

समासोक्ति अलङ्कार है; क्योंकि प्रस्तुत सूर्य के जल ग्रहण करने और वर्षा में त्यागने से किसी अप्रस्तुत राजा के कर लेने और प्रजा के हित के लिए समय पर उसे व्यय करने की प्रतीति होती है। यह पद्य वाल्मीकिजी के 'नवमासधृतम्' की छाया का प्रतिबिम्ब है। अलङ्कार भी दोनों में एक ही है। स्त्रीलिंग 'द्यौः' से गर्भवती नायिका की प्रतीति में अधिक चमत्कार है अथवा पर्जन्य से राजा की प्रतीति में, इसका निर्णय सहृदयों के ही ऊपर छोड़ देते हैं।

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे॥

गार्हस्थ्य जीवन-सुलभ तापत्रय से सन्तप्त विरक्त गृहस्थों के यहाँ जब कोई महात्मा विष्णुभक्त आ जाता है तब वे जैसा उत्सव मनाते हैं वैसे ही मयूर मेघों के आने पर मनाते थे। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसका रामचरितमानस में अनुवाद ही कर दिया है—

लक्ष्मण देखहु मोर-गण नाचत वारिद पेखि।
गृही विरति रति हर्षबस विष्णुभक्त कहँ देखि॥
लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव॥

गुणी पुरुषों में भी जैसे कामिनियों का प्रेम नहीं स्थिर रहता वैसे ही सम्पूर्ण संसार के प्रिय होने पर भी मेघों में बिजली का प्रेम चञ्चल था।

"गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः"॥

विपत्तियों पर विपत्तियाँ पड़ने पर भी विष्णुभक्तों के समान पर्वत जलधारों से आहत होने पर भी व्यथित नहीं होते थे। गोस्वामीजी ने इसे इस तरह कहा है—

बूँद अघात सहैं गिरि कैसे, खल के वचन सन्त सह जैसे।

"मार्गा बभूवुः संदिग्धास्तृणैश्छन्नाल्पसंस्कृताः।
नाभ्यस्यमाना श्रुतयो द्विजैः कालहता इव" ॥

कालचक्र के फेर से ब्राह्मणों से त्यक्त वेदों के समान तृणाच्छादित मार्ग संस्कारभ्रष्ट और संदिग्ध हो गये थे।

जलौघैर्निरभिद्यन्तः सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥

कलियुग में पाखण्डियों के कुतर्क से जैसे वैदिक मार्ग लुप्त हो गये हैं वैसे ही मेघों के बरसने पर जलप्रवाह से पुल टूट गये हैं। गोस्वामीजी ने 'मार्गा बभवुः' इस श्लोक के उपमेय भाग के साथ 'जलौघैर्निरभिद्यन्त' इस श्लोक के उपमान भाग का सङ्कलन कर अपने वर्षा-वर्णन में इस तरह कहा है—

हरित भूमि तृण-संकुलित, समुझि परै नहिं पन्थ।
जिमि पाखण्ड-विवाद ते लुप्त भये सद्ग्रन्थ ॥

यदि वाल्मीकि ने वीरबहूटियों से चित्रित हरित वनस्थली को कामिनी बनाकर बीच बीच में महौरी रंग से रँगी हरी शाल ओढ़ाई है तो व्यासजी ने भी उसे राजलक्ष्मी बनाकर शिलीन्ध्र की छत्र-छाया की है।

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥

वीर बहूटियों से लाल, नवीन तृणों से हरी और शिलीन्ध्र से छाया की हुई भूमि राजलक्ष्मी की तरह शोभित होती थी।

ऋतु-वर्णन महाकाव्य का ही अंग है। महाकवि माघ और भारवि भी वर्षा-वर्णन में चुप नहीं हैं। इन कवियों के कुछ उदाहरण आगे दिये जाते हैं।

जब विजयाकाङ्क्षी अर्जुन इन्द्रनील पर्वत पर तपश्चर्य्या कर रहे थे, तब तपोभङ्ग के लिए इन्द्र ने वहाँ अप्सराओं को भेजा। उसी समय मानों समाधि-भंग में अप्सराओं की सहायता के लिए वर्षा का भी आगमन हुआ था।

"सजलजलधरं नभो विरेजे,
विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम्।
व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने,
जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु" ॥

आकाश सजल मेघों से सुन्दर लगता था, विद्युत् की प्रभा विकास को प्राप्त हो रही थी। गम्भीर मेघ-ध्वनि सभी दिशाओं में गूँजती थी, जिससे प्रेमी और प्रेमिकाओं में मंची हुई रति-कलह भग्न होती थी।

व्यथितमपि भृशं मनोहरन्ती
परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा।
परभृतयुवतिः स्वनं वितेने
नवनवयोजितकण्ठरागरम्यम् ॥

पके हुए जामुन खाने से अत्यन्त हृष्ट कोकिला अपने मधुर कण्ठ से नये नये राग अलापती थी, जिससे व्यथित-हृदय भी आकृष्ट हो जाते थे।

"सरजसमपहाय केतकीनां
प्रसवमुपान्तिकनीपरेणुकीर्णम्।
प्रियमधुरसनानि षट्-पदाली
मलिनयति स्म विनीलबन्धनानि" ॥

केतकी का पुष्प पराग-पूर्ण था, समीपवाले कदम्ब-पुष्प की पराग उस पर और भी जमा हो गई। किन्तु मधु की लोभिनी

भ्रमर-पंक्ति उसे (केतकी के पुष्प को) छोड़कर वृन्तवाले बन्धूक-पुष्पों को मलिन कर रही थी।

बन्धूक को भाषा में दुपहरिया का फूल कहते हैं। इसका वृन्त नीला होता है और पँखुरियाँ लाल होती हैं। कवि का भाव यह है कि भौंरे इतने लोभी हैं कि वे लाल पँखुरियों पर बैठ बैठ कर उसको नीला करना चाहते हैं, जिसमें और कोई मधु को न देख सके। मधु के पर्याप्त होने पर भी मधु-सञ्चय से भ्रमर विरत नहीं हैं। लोभ का भी कोई ठिकाना है! इस श्लोक को पढ़कर 'भारवेरर्थगौरवम्' की स्मृति आ जाती है।

मुकुलितमतिशय्य बन्धुजीवं धृतजलबिन्दुषु शाद्वलीस्थलीषु।
अविरलवपुषः सुरेन्द्रगोपा विकचपलाशश्रियं समीयुः॥

छोटे छोटे पौधों से हरी भूमि पर पानी की बूँदें जमा थीं। उस पर मोटी मोटी वीरबहूटियाँ (अपनी ललाई से) बन्धूक की कलियों को नीचा दिखाकर खिले हुए किंशुक-कुसुमों की कान्ति को धारण करती थीं।

भारवि की कविता में केतकी के फूलों को छोड़ कर भौंरों का बन्धूक के फूल पर जाने का वर्णन अवश्य चमत्कार-पूर्ण है, पर वर्षा में कोकिला-कलाप खटकता है, क्योंकि आलङ्कारिकों ने नियम कर दिया है—"मधावेव पिकध्वनिः" अर्थात् कोकिल की ध्वनि वसन्त में ही होती है। यद्यपि कोकिला का शब्द श्रावण तक सुनाई देता है तथापि उसका वर्णन 'नियमपुरस्कारात्मक कविसमय' के विरुद्ध है। संस्कृत कवियों में भारवि को छोड़ कर शायद ही अन्य किसी कवि ने वर्षा में कोकिल के बोलने का वर्णन किया हो।

पिकं हि मूकीकुरु धूमयोने! भेकं च सेकैः मुखरीकुरुष्व।
किन्तु त्वमिन्दोः प्रपिधाय बिम्बं खद्योतमुद्योतयसीत्यसह्यम्॥

'हे धूमयोने (मेघ), तू चाहे कोयल को मौन कर दे और चाहे मेंढकों को मुखर बना दे, पर चन्द्रमा के बिम्ब को छिपा कर जुगुनुओं का तेरा चमकाना सहा नहीं जाता।' इस पद्य से भी वर्षा में कोकिल का मौन होना पाया जाता है।

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए कृष्ण भगवान् ने द्वारका से जब प्रस्थान किया, तब मार्ग में 'रैवतक' पर्वत पड़ा। उसी पर्वत पर मानों कृष्ण भगवान् के स्वागत के लिए सब ऋतुएँ भी आईं। महाकवि माघ ने उसी स्थल पर वर्षा ऋतु की घटनाओं को चित्रित किया है। महाकवि कालिदास के रघुवंश के वसन्त-वर्णन की तरह कविवर माघ ने द्रुतविलम्बित छन्द में वर्षा का वर्णन तथा उसके चतुर्थ-पाद में यमकालङ्कार का सर्वत्र सन्निवेश किया है। प्रत्येक पद्य में 'यमकालङ्कार' का अड़ंगा लगाने पर भी मनोगत भावों की अभिव्यक्ति में जरा भी शिथिलता नहीं आने पाई और न उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालङ्कारों की ही न्यूनता हुई है। इन्हीं सब बातों को देख कर कहना पड़ता है—'माघे सन्ति त्रयो गुणाः'।

'स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालित स्वसमया समयां जगती धरम्'॥

जिसके पयोधर गलित नहीं हुए और जिसमें बिजली नेत्रों के समान बार बार चमक रही है ऐसे जलधरों की पंक्ति संकेत समय के प्रतीक्षण में असमर्थ अधीर नायिका की भाँति अपने प्रियतम रैवतक पर्वत से मिल गई है।

अनुययौ विविधोपलकुण्डलद्युतिवितानकसंवलितांशुकम्।
धृतधनुर्वलयस्य पयोमुचः शबलिमावलिमानमुषो वपुः॥

इन्द्र-धनुष को धारण किये मेघ की विचित्रता, तरह तरह की मणियों से जड़े हुए कुण्डलों के प्रभा-पुञ्ज से मिश्रित श्याम वर्ण-

वाले कृष्ण भगवान् के शरीर का अनुसरण करती थी अर्थात् उसी तरह शोभित होती थी। "रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेत-त्पुरस्तात्" मेघदूत के इस श्लोकांश का भाव माघ की उपर्युक्त उक्ति में झलकता है।

द्विरददन्तवलक्षमलक्ष्यत स्फुरितभृङ्गमृगच्छविकेतकम्।
घनघनौघविघट्टनया दिवः कृशशिखं शशिखण्डमिवाच्युतम्॥

हाथी के दाँत की तरह सफेद पतली कोर का केतकी का फूल ऐसा दिखाई देता था, मानों आपस में मेघों के टकराने से चन्द्रमा का टुकड़ा भूमि पर गिर पड़ा और उस पर बैठा हुआ भौंरा (चन्द्र में बैठे हुए) मृग की छवि देता था।

'दलितमौक्तिकचूर्णविपाण्डवः स्फुरितनिर्झरशीकरचारवः।
कुटजपुष्पपरागकणाः स्फुटं विदधिरे दधिरेणुविडम्बनाम्॥

पिसे हुए मोतियों के चूर्ण के समान सफेद और बहते हुए झरनों के कणों की तरह सुन्दर कुटज के पुष्प की पराग के कण दही के रेणु की विडम्बना करते थे।

'प्रणयकोपभृतोऽपि पराङ्मुखाः सपदि वारिधरा इव भीरवः।
प्रणयिनः परिरब्धुमथाङ्गनो ववलिरे वलिरचितमध्यमाः"

प्रणय-कोप धारण किये हुए मानिनियाँ मुँह फेरे बैठी थीं। उसी समय एकाएक बादल गरज उठा। फिर तो डर कर वे अपने प्रियतमों से इस तरह लिपट गईं कि उनका मध्य-भाग त्रिबलियों से खाली हो गया।

विगतरागगुणोऽपि जनो न कश्चलति वाति पयोद नभस्वति।
अभिहितेऽलिभिरेवमिवोच्चकैरननृते ननृते नवपल्लवैः॥

मेघों की वायु लगने से कौन विरक्त मनुष्य चञ्चल नहीं हो उठता? इस सच्ची बात को भौंरों के जोर से कहने पर ही मानों नवीन पल्लव नाचने लगते थे।

आनन्द-वृन्दावन चम्पू के रचयिता संस्कृत साहित्य के अन्तिम कवि कविवर कर्णपूर ने वर्षा-वर्णन में कैसी पीयूष-वर्षा की है। उनके केवल दो पद्यों का उदाहरण देकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं।

पुरन्दरधनुर्लतातिलकचारुभालस्थला
तडित्कनककेतकीदललसत्तमः कुन्तला।
विलोलविसकरिटका विमलभालभारिरायसौ
नवोन्नतपयोधराहरि मनोहरा दिग्वधूः॥

नवीन और उन्नत पयोधरोंवाली आशा-वधू ने कृष्ण भगवान् के मन को हरने के लिए अपने विशाल भालस्थल पर इन्द्र-धनुष का तिलक लगाया। उसने विद्युत् रूप केतकी के दलों से अन्धकार रूप कच-कलापों को गूँथा है और चञ्चल वक-पंक्तियों की माला धारण की है।

सारङ्गीकुलकाकुकर्षणविधेराश्वासवाङ्मानिनी
मानक्षोदनपेषणी भ्रमिवलत्सुस्निग्धमन्द्रध्वनिः।
नृत्यन्मत्तमयूरमौरजरवःप्राणेशविश्लेषणी
प्राणाकर्षणमन्त्र-पाठनिनदो मेघस्वनः श्रूयते॥

मेघ-ध्वनि ऐसी सुनाई पड़ती थी मानों 'पी कहाँ' का राग गानेवाली चातकियों के झुण्ड को आश्वासन देनेवाली हो, या मानिनियों का मान पीसने के लिए घुमाई हुई पेषणी (सिल) की मन्द स्निग्ध ध्वनि हो, या नाचते हुए मत्त-मयूरों के लिए मृदङ्ग-ध्वनि हो, या वियोगिनियों के प्राण खींचने के लिए मन्त्र-पाठ की ध्वनि हो।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	४	म	में
२	१५	जानकारा	जानकारी
२	टि० १	स नैव व्यकरच्छ्रे यो०	स नैव व्यभवत्तच्छ्रे यो रूपमत्यसृजत धर्मं तदे-तत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म-स्तस्माद्धर्मात् परन्नास्ति ब्राह्मण ४ अध्याय १, बृहदारण्यक
४	६	परिमाजित	परिमार्जित
५	१३	पूव	पूर्व
६	४	उभड़ा	उमड़ा
१०	४	पात्रीकुवन	पात्रीकुर्वन्
१२	१२	मूति	मूर्ति
१३	२	वणित	वर्णित
१५	१०	यच्चादिव्यं	यच्च दिव्यं
१५	१३	प्रवृत्त	प्रवृत्ति
१५	१३	निवृत्त	निवृत्ति
१७	टि० २	"ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति" यहाँ पर	यहाँ पर कोई कोई आचार्य ब्राह्मण पद को उपलक्षण मानकर तीनों वर्णों के अधिकार का प्रतिपादन करते हैं।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	१	सस्कारों	संस्कारों
२०	१३	वतसे	वर्तसे
२२	२१	कृतदण्डः	कृतदण्डाः
२४	७	आचाय	आचार्य्य
२७	१८	नीति	रीति
२७	२१	नीति	रीति
२६	१५	वृत्तः	वृत्तम्
३०	१६	कोकनदारुणास्य	कोकनदारुणास्यः
३०	२०	द्योमालिलोचनसुतः	द्योभात्रिलोचनसुतः
३३	१८	एकम्	रामम्
३४	७	वासनान्तविलीन	वासनान्तर्विलीन
३५	६	रूल	रुत
३७	१	किश्चत्	कश्चित्
३८	१७	शैनममभाषमाणा	शैनमभाषमाणा
३८	२५	कल्याणी	कल्याणि
४०	१६	वलक्षण	विलक्षण
४२	८	भाम	भीम
४२	२२	मोलिना	मौलिना
४३	१६	मग्धे	मुग्धे
४३	१२	शतातियाति	शतातिपाति
४४	१	भ्रम	भ्रम
४५	६	मत्ताञ्जसा	मत्राञ्जसा
४६	१५	झलतकता है	झलकता है
४७	१	वस्तार	विस्तार
४७	६	ओर	और

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७	२०	वणित	वर्णित
४८	१६	भा	भी
४६	४	निवासिताहिनि	निर्वासिताहिनि
५१	१८	लोकिक	लौकिक
५४	५	था	तथा
५४	१०	सग	सर्ग
५४	१२	वणन	वर्णन
५६	१८	रसावरोधिनी	रसविरोधिनी
६१	१३	सग्रह	संग्रह
६४	२५	नढ़	मूढ़
६६	१४	प्रतिहिसा	प्रतिहिंसा
६७	११	प्रकष	प्रकर्ष
६८	२	परिस्फुरिल्लोल	परिस्फुरल्लोल
६८	१७	म	में
७०	४	वतुलाकार	वर्तुलाकार
७०	६	लसदेशावेकश्च्युति	लसदंशावेकतश्च्युति
७१	१	भेद	भेदम्
७१	३	हा	ही
७१	५	सितसहोश्च	सितसप्तेः
७१	१०	यथाथषु	यथार्थेषु
७१	१५	म	में
७१	२२	ऐसे	ऐसा
७२	१	में	की
७२	७	शुकाविलि	शुकावलि
७३	१८	स्वाभवोक्ति	स्वभावोक्ति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७५	८	सग	सर्ग
७६	४	शत्र	शत्रु
७६	७	तज	तेज
७६	१६	विमुक्तये	विमुक्तये
७७	१	हृदय के	हृदय के भावों के
७७	५	पूवक	पूर्वक
७७	१५	निविवाद	निर्विवाद
७८	५	मत्री	मंत्री
७८	६	छाया-पथ	छाया-पद्य
७८	७	मालिकता	मौलिकता
७६	७	स	से
७६	६	मखै	मुखैः
८०	३	अजस्रमीश	अजस्रमीशस्
८०	३	त्वष्ट्रा	त्वष्टा
८०	७	कमसु	कर्मसु
८०	१६	जा	जो
८०	१६	भा	भी
८०	१८	का	को
८१	१०	उनक	उनके
८४	११	उन्नत	उन्नति
८५	२०	ग्रस लेस लेता है	ग्रस लेता है
८६	८	भाया	भार्या
८६	२१	चाहए	चाहिए
८७	११	अनुसा	अनुसार
८८	१६	एसे	ऐसे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८८	२०	आपकी	आप में
८८	२४	जवेंगे	जावेंगे
८९	३	सभाषणों	संभाषणों
८९	१३	हे	है
८९	१९	नीत	नीति
९०	३	पूण	पूर्ण
९०	७	विनाप्यस्मदलं	विनाप्यस्मदल
९०	८	विनयास	विपर्यास
९१	१६	किरातार्जुन	किरातार्जुनीय
९१	२३	तर	तरह
९३	९	म	मद
९६	६	नीचे की)	(नीचे की)
९६	२०	कमलिना	कमलिनी
९६	२१	कमलां	कमलों
९८	१८	प्राण प्रभाव-स्वरूप	प्राण-स्वरूप प्रभाव
९९	१२	स	से
१०१	१४	आर	और
१०२	२१	नूज्झियातनिषङ्ग	नूज्झितनिषङ्ग
१०३	६	परा	पुरा
१०३	१६	अन्यान्य	अन्ययान्य
१०३	२०	अपूर्वता (आधिक्य)	अन्यता (अपूर्वता)
१०५	९	वणन	वर्णन
१०६	९	पुण्य वीथिका	पण्यवीथिका
१०८	१७	विनयम्	विनयनम्
११०	४	यथावतार	पथावतार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११०	६	आमन्द	अमन्द
१११	७	शङ्ग	शाङ्ग
१११	१५	रत्नकर्णिमा	रत्नकर्णिका
११३	५	कोइ	कोई
११३	१५	करजक	करण्डक
११३	१७	धड़ल्ले	धड़ाधड़
११३	२२	द्यु ताध्यक्ष	द्यू ताध्यक्ष
११६	४	प्रपाणक	प्रपानक
११८	७	शतृप्रत्यन्त	शतृप्रत्ययान्त
११८	१४	साहित्यमूति	साहित्यमूर्ति
१२०	७	संस्थितः	संस्थितिः
१२३	१७	प्रमाद	प्रसाद
१२९	१०	मे	में
१२९	१९	भीनी हुई	भीगी हुई
१२९	२१	चक्षुमुकुलिनि	चक्षुर्मुकुलिनि
१३०	५	गइ है	गई है
१३१	२२	ओर	और
१३४	१५	मनुरुसञ्चरः	मनुसञ्चरः
१३५	१०	बाज	बीज
१४०	९	स	से
१४४	११	छरयति	छुरयति
१४५	१३	विभति	विभर्ति
१४६	६	नहाइ	नहाई
१४६	७	मूातमती	मूर्तिमती
१४६	१२	पवत	पर्वत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४६	१५	पवतीय	पर्वतीय
१४७	७	सवप्रिय	सर्वप्रिय
१४७	६	प्रकृत	प्रकृति
१४८	४	भर्तुविप्रकृता	भर्तुर्विप्रकृता
१४८	२२	कुसुमसदृश	कुसुमसदृशम्
१४९	८	प्रमृश्य	प्रमथ्य
१५१	५	सलोल	सलील
१५१	६	उत्तस्त	उत्त्रस्त
१५१	१२	भतृदारिका	भर्तृदारिका
१५२	४	कण्ठालिगन	कण्ठालिङ्गन
१५२	२१	निवन्नः	निबन्धः
१५३	१७	समृद्धिशालि	समृद्धिशालिनी
१५३	२२	माल्यामोदा	माल्यामोदी
१५४	४	वणन	वर्णन
१५५	१४	क	के
१५५	२० टि०	चाटुभ्राण	चाहुआण
१५६	११	पाउप्रबन्धो	पाउ अबन्धो
१५६	१२	अभिमाणम्	अभिमाणम्
१५७	१७	प्रवतना	प्रवर्तना
१५८	६	दव-देव	देव-देव
१५८	१८	वन्देम	वन्देय
१५९	१३	बद्द्रौ	बद्धो
१६०	३	य	ये
१६०	६	मनिवेद	मनिर्वेद
१६१	२२ टि०	सफलखरिका	सफलकखटिका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६२	२	वेश्यगामी	वेश्यागामी
१६२	१०	स्वसूरभारवयः	सूरभारवयः
१६४	१८	वा गामन्या	वा गाथामन्या
१६६	१६ टि०	पथा	यथा
१६७	१३	शेन्नन्ते	शिन्नन्ते
१६७	१७	गण्डलेख्यानाभिर्विलम्बि	गण्डलेखमानाभिविलम्बि
१७०	२	नानादेवी	नागादेवी
१७०	१६	खानेपुर	खोनमुख
१७६	८	संकम क्षेत्र	संग्रामक्षेत्र
१७६	१६	तहमत	तहमल
१७८	६	थ	थे
१७६	१२	विधु	विधुं
१७६	१३	विभारस्य	विभोरस्य
१७६	१४	न्नरवकर	न्निरवकर
१८०	२१	कस्तूरिका	कस्तूरिकाम्
१८०	२४	मर्मस्पर्शिनी	मर्मस्पर्शिनी
१८१	३	रमानंनाम	रमाननाभं
१८२	१	मातर्शाणि	मातर्वाणि
१८२	१७	पृथक पृथक	पृथक् पृथक्
१८२	२४	खल रसने	खलरसने
१८४	११	परमण्डप	पटमण्डप
१८४	२४	तावे	ताँबे
१८५	१२	शब्दावन्यास	शब्दविन्यास
१८५	१६	एवं	एव
१८६	४	यमकालकार	यमकालंकार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८६	१२	भावक	भावुक
१८६	२२	कुमुदोवान्धव	कुमुदबान्धव
१८६	२४	भावितु	भवितु
१८८	२	तदनि	तदिव
१८६	१	गन्धा	रन्धा
१८६	१	बन्ध	बबन्ध
१८६	५	श्लाको	श्लोकों
१८६	१७	पम्लान	परिम्लान
१८६	१६	व्जेमण्डनं	श्रीमण्डनं
१८६	२३	वनितैः	वलितैः
१६०	३	दोधूयत	'दोधूयते'
१६०	४	सकृत्यायोग	सकृत्प्रयोगं
१६०	४	यङन्नानि	यङन्तानि
१६०	४	यत्युगन्नान्यन्यानि	यङ् लुङ्गान्यन्यानि
१६०	१०	विन्दन्तीव	निन्दन्तीव
१६०	१२	प्योघः	प्योघः
१६०	२१	विसज्यमानाः	विरुज्यमानाः
१६१	८	समादृश्यते	स्म मा दृश्यते
१६१	१०	अप द्वारा	अपह्नु ति द्वारा

——